देव-पुरस्कार ग्रंथावली—२

भारत की चित्रकला

कलानां प्रवरं चित्रम्
—विष्णुधर्मोत्तरपुराण

राय कृष्णदास

नागरीप्रचारिणी सभा काशी

१९९६

प्रकाशक—प्रधान मंत्री, ना० प्र० सभा, काशी
प्रथम संस्करण: मूल्य—
सुलभ संस्करण १), विशिष्ट संस्करण १।)

मुद्रक—श्री० अपूर्वकृष्ण बोस,
इंडियन प्रेस लिमिटेड, बनारस-ब्रांच

ग्रंथावली का परिचय

सोलहवीं शती में, भारत में जो नव-जीवन तरंगित हो रहा था उसमें बुंदेलखंड के महाराज वीरसिंहदेव का एक विशेष स्थान है। उन्होंने ओरछा नगर बसाया, वहाँ अनेक भव्य भवन और चतुर्भुज का बड़ा विशाल तथा सुंदर मंदिर बनाया एवं दतिया में तो ऐसा प्रासाद निर्माण किया जैसा मध्य-युग से आज तक उत्तर-भारत में कहीं बना नहीं। हिंदू वास्तु का यह नमूना संसार के खास भवनों में से है। हिंदी कविता में रीति-शैली के जन्मदाता आचार्य केशवदास उन्हीं के यहाँ राजकवि थे।

इसी बुंदेला राजवंश के समुज्ज्वल रत्न वर्तमान ओरछा-नरेश सवाई महेंद्र महाराज सर वीरसिंहदेव के० सी० एस० आइ० हैं, जिनका प्रगाढ़ हिंदी-प्रेम सराहनीय है। १९९० वि० में द्विवेदी-अभिनंदन उत्सव के सभापति-आसन से, काशी में महाराज ने २०००) वार्षिक साहित्य-सेवा के लिये, राज्य की ओर से देने की घोषणा की थी। इसी घोषणा का मूर्त-स्वरूप **देव पुरस्कार है,** जिसमें २०००) वार्षिक, एक साल व्रजभाषा के, दूसरे साल खड़ी बोली के सर्वोत्तम काव्य-ग्रंथ पर दिया जाता है। तदनुसार, १९९१ वि० में यह पुरस्कार व्रजभाषा की 'दुलारे दोहावली' पर श्री दुलारेलाल भार्गव को, १९९२ वि० में खड़ी बोली की 'चित्र-रेखा' पर श्री रामकुमार वर्मा को तथा १९९३ वि० में व्रजभाषा के 'राम-चंद्रोदय काव्य' पर श्री रामनाथ 'जोतिसी' को दिया गया।

१९९४ वि० में पुरस्कार-योग्य पुस्तक का अभाव रहा। अतएव **पुरस्कार** के इस नियम के अनुसार कि, जिस वर्ष पुरस्कार-योग्य ग्रंथ न हो उस वर्ष की पुरस्कार-निधि उत्तम पुस्तकों के प्रकाशन में लगाई जाय, **पुरस्कार** की संचालक संस्था श्रीवीरेंद्र-केशव-साहित्य परिषद्, टीकमगढ़ ने एक एक हजार रुपया हिंदी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग तथा नागरीप्रचारिणी सभा, काशी को प्रकाशनार्थ प्रदान किया।

सभा ने इस निधि को सधन्यवाद स्वीकार करते हुए निश्चय किया कि इससे **देव-पुरस्कार-ग्रंथावली** का प्रकाशन किया जाय, जिसमें कला और विज्ञान आदि की अच्छी से अच्छी पुस्तकें सुलभ मूल्य पर निकाली जायँ। इस संबंध में हमें जैसे लेखकों का सहयोग प्राप्त हो रहा है उससे पूरी आशा है कि उक्त सात्विक दान द्वारा प्रसूत यह ग्रंथावली अपने उद्देश्यों में सर्वथा सफल होगी।

—प्रकाशक

निवेदन

'भारत की चित्रकला' और 'भारतीय मूर्तिकला' संबद्ध प्रकाशन हैं। अतएव ये संग पठनीय तो हैं ही, इनके 'निवेदन' का विषय भी बहुत कुछ एक है। जैसे, पुस्तक का गड्डमड्डपन; 'इतिहास-प्रवेश' से सहायता लेने के लिये भाई जयचंद्र को धन्यवाद; ऐतिहासिक और सांस्कृतिक काल-विभाजन का सामंजस्य एवं जल्दी में त्रुटियों का रह जाना, (जिसका ज्वलंत उदाहरण है—ई० तीसरी शती के चित्र तथा धर्माचार्य मानी को उत्तर-मध्यकाल में पहुँचा देना; पृ० ६१) इत्यादि।

ऐसी बातों का पुनः पल्लवन अपेक्षित नहीं। हाँ, यह बताना आवश्यक है कि अपनी चित्रकला के इतिहास तथा वर्गीकरण विषयक प्रचलित सिद्धांतों से कतिपय भिन्न मत एवं कुछ समस्याओं के प्रस्तावित हल प्रस्तुत पुस्तक में पाए जायँगे। इनके लिये लेखक जिम्मेदार है। १६१०-११ से जाँच-पड़ताल करते करते वह इन निष्कर्षों पर पहुँचा है, और जब तक ये इदमित्थं सत्य के रूप में प्रत्यक्ष नहीं हो गए, तब तक इन्हें स्वीकार करने में हिचकता रहा है। इनमें की कुछ बातें ऐसी हैं जो उस्ताद रामप्रसाद की पारंपरीण अनुश्रुतियों से प्राप्त हुई हैं। आरंभ में लेखक को यह पता न था कि अपनी चित्रकला के इतिहास में उनका क्या महत्त्व है, किंतु अध्ययन के साथ साथ वह प्रकट होता गया।

ये निष्कर्ष §§ २५, २५ क–ग, २७, २८, २६ क–ख, ३०, ३४, ३५ क—ख-४, ३७, ३८ क, ४० ग–घ, ४२, ४३, ४८, ४६ एवं ५० में निहित हैं। विद्वानों और विचारकों से प्रार्थना है कि इनके विमर्षपूर्वक कोई एक सिद्धांत निश्चित करें।

अन्य पाठकों को भी ये बातें बता देनी आवश्यक थीं, क्योंकि इस विषय के अधिक अध्ययन में ये सहायक होंगी। उन्हें इन पर स्वतंत्र रूप से विचार करना चाहिए और खोज को आगे बढ़ाने में हाथ बँटाना चाहिए।

इसका अजंतावाला अंश अधिकतर श्री रविशंकर रावल के 'अजंता के चित्र-मंडप' पर अवलंबित है, जिसके लिये लेखक हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापन करता है। अकबर कालीन शोध के लिये डा० परमात्माशरण तथा श्री ब्रजरत्नदास ने मूल फारसी अवतरण निकालने में जो सहायता दी है तदर्थ वह उनका आभारी है।

'चित्रकला' के इस संस्करण में एक रंगीन और सत्ताईस सादे चित्र दिए जा रहे हैं। इनमें से मुख-चित्र के लिये प्रवासी प्रेस, कलकत्ता को और फलक—२ तथा ७-क; ७-ख तथा १२ एवं ६ तथा २४ के लिये यथानुक्रम सरस्वती पब्लिशिंग हाउस, प्रयाग, गीता प्रेस गोरखपुर, और इंडियन प्रेस, प्रयाग को धन्यवाद है।

कला-भवन के सहायक संग्रहाध्यक्ष श्री विजयकृष्ण ने पुस्तक की तैयारी में विशेष सहायता दी है; इसी प्रकार श्री शंभुनारायण चतुर्वेदी तथा श्री शंभुनाथ वाजपेयी ने कापी प्रस्तुत करने में परिश्रम किया है। इन सज्जनों को उनकी कृपा के लिये धन्यवाद है। और, पुनः पुनः साधुवाद है श्री लल्लीप्रसादजी पांडेय का जिन्होंने पूर्व-वत् पूर्ण साहाय्य प्रदान किया है।

काशी, —लेखक

अधिक श्रावण शु० ११, १९९६

तालिका

फलकों का उल्लेख

भारतीय चित्रों के मुख्य संग्रहालय

इलाहाबाद, म्यूनिसिपल संग्रहालय; औंध, राजकीय संग्रहालय; कलकत्ता—इंडियन संग्रहालय, बंगीय साहित्य परिषद्, विक्टोरियामेमोरियल हॉल; चंबा, भूरीसिंह संग्रहालय; त्रिवेंद्रम्, श्री चित्रालयम्; दिल्ली—आर्किऑलॉजिकल तथा सेंट्रल एशियन संग्रहालय; पटना—खुदाबख्श पुस्तकालय, पटना संग्रहालय; पूना, भारतीय इतिहास संशोधक मंडल; बंबई, प्रिंस ऑव वेल्स संग्रहालय; बड़ौदा, राजकीय संग्रहालय; बनारस, भारत कला-भवन; बोलपुर, कला-भवन (शांति-निकेतन); लाहौर, केंद्रीय संग्रहालय; हैदराबाद (दकन)।

ऑक्सफर्ड, बॉड्लियन पुस्तकालय; न्यूयार्क, मेट्रोपोलिटन संग्रहालय; पेरिस—राष्ट्रीय पुस्तकालय तथा लूव्र संग्रहालय; बर्लिन, राजकीय पुस्तकालय; बोस्टन संग्रहालय; लंदन—इंडिया आफिस, ब्रिटिश संग्रहालय, साउथ केंसिंग्टन संग्रहालय; वॉशिंगटन, फ्रीर आर्ट गेलरी।

भारतीय चित्रों के मुख्य निजी संग्रह

कलकत्ता—श्री अजित घोष; श्री अवनींद्रनाथ ठाकुर; श्री बहादुरसिंह सिंघी; पटना, रा० ब० राधाकृष्ण जालान; बनारस, श्री सीताराम साह; रामपुर, राज्य पुस्तकालय।

लंदन-श्री चेस्टर बेटी।

द्रष्टव्य तथा सहायक ग्रंथ

इंडिया सोसायटी, लंदन—

बाघ केव्ज़ १९२७।

कुमारस्वामी; आनंद के०,—

इंडियन ड्रॉइंग्स, २ भाग; लंदन .

बोस्टन संग्रहालय कैटलॉग, भाग ५ (राजपूत चित्र)
बोस्टन, १९२६ .

बोस्टन संग्रहालय कैटलॉग, भाग ६ (मुगल चित्र),
बोस्टन, १९३० .

राजपूत पेंटिंग, दो भाग; लंदन .

हिस्ट्री ऑव इंडियन ऍंड इंडोनेशियन आर्ट,लंदन, १९२७ .

क्लार्क; सी० स्टैनले,—

इंडियन ड्राइंग्ज, लंदन, १९२१ (हम्जा चित्रावली) .

" " " " (वैंटेज प्रदान) .

जयचंद्र विद्यालंकार—

इतिहास-प्रवेश, प्रयाग, १९३८ .

त्चुकिन; इवैन,—

मुगल कला विषयक फ्रेंच पुस्तक, पेरिस, १९२९ .

देवीप्रसाद; मुंशी,—

जहाँगीरनामा, कलकत्ता, १९०५ .

नवाब; साराभाई मणिलाल,—

जैन चित्र-कल्पद्रुम, अहमदाबाद, १९३६ .

बेनियन; लॉरेंस,—

कोर्ट पेंटर्स ऑव द ग्रैंड मुगल्स; ऑक्सफर्ड, १९२१ .

ब्राउन; पर्सी,—

इंडियन पेंटिंग अंडर द मुगल्स; ऑक्सफर्ड, १९२४ .

इंडियन पेंटिंग .

मेहता; न्हानालाल चमनलाल,—
स्टडीज इन इंडियन पेंटिंग, बंबई .
भारतीय चित्रकला, इलाहाबाद, १९३३ .
रावल; रविशंकर महाशंकर,—
अजंता के कलामंडप, अहमदाबाद, १९३७ .
स्मिथ; विंसेंट,—
अ हिस्ट्री ऑव फाइन आर्ट इन इंडिया ऐंड सीलोन, ऑक्सफर्ड, १९३० .
हेरिंघम; लेडी,—
अजंता फ्रेस्कोज .
हेवेल; ई० बी०,—
इंडियन स्कल्प्चर ऐंड पेंटिंग, लंदन, १९०८ .

निर्देश

ना० प्र० प० (नवीन) — नागरी-प्रचारिणी पत्रिका, नवीन संस्करण .

स्मिथ — — अ हिस्ट्री ऑव फाइन आर्ट इन इंडिया ऐंड सीलोन .

पारिभाषिक शब्द

(जिनकी व्याख्या यथास्थान नहीं दी गई है)

सं० = संज्ञा, वि० = विशेषण, क्रि० = क्रिया

अभिप्राय—सं० कोई चल वा अचल, सजीव वा निर्जीव, प्राकृतिक अथवा काल्पनिक वस्तु जिसकी अलंकृत एवं अतिरंजित आकृति, मुख्यत: सजावट के लिये किसी कला-कृति में बनाई जाय (मोटिफ़) ।

अस्तर-बट्टी—सं० (अस्तर + बट्टी) अस्तर, वह मसाला जिससे जमीन बाँधी जाय; बट्टी, उस जमीन को घोंट कर बराबर करने के लिये चिकने पत्थर की बट्टी।

आदम-कद—वि० आदमी की ऊँचाई के बराबर कोई चित्र वा मूर्ति।

आलेखन—सं० चित्रविन्यास, लिखाई। क्रि० चित्र अंकित करना।

उरेहना—क्रि० चित्र अंकित करना।

कलम—सं० गिलहरी की पूँछ के रोएँ से बना आलेखन का उपकरण (ब्रश); आलेखन-शैली।

कुनियाँ, कोनियाँ—सं० किसी चतुष्कोण कृति में चारों कोने का अलंकरण।

गोमूत्रिका—सं० इस आकृति की ~~ बेल। बैल जब चलता रहता है तो उसके मूत्र का चिह्न उक्त आकार का पड़ता है। बैल-मूतनी; बरद-मुतान।

चेहरई—सं० चेहरे की रंगत।

जमीन—सं० चित्र लिखने के लिये अस्तर की हुई उपयुक्त सतह। क्रि० जमीन बाँधना, अस्तर लगाकर जमीन तैयार करना।

झलक—सं० वह प्रधान रंगत (=आभा) जो समूचे चित्र में व्याप्त हो।

टपरना—क्रि० पत्थर को टाँकी की चोट से खुरदरा बनाना।

तरह—सं० रचना-प्रकार, आलंकारिक अंकन (डिज़ाइन)।

दम-खम—सं० जानदार—बिना टूटवाली, एवं गोलाई लिए—वंकिम (मूर्ति की गढ़न वा चित्र की रेखाएँ)।

दृष्टिक्रम, दृष्टिपरंपरा—सं० दर्शक को यथाक्रम एक के बाद दूसरी वस्तु दीख पड़ने की अभिव्यक्ति (पर्सपेक्टिव)।

परदाज—सं० अभीष्ट रंगत लाने वा साट को मिटाने के लिये इतने पास पास लिखे महीन बिंदु कि वे एक जान पड़ें और उनसे अभीष्ट परिणाम निकल आवे।

पृष्ठिका—सं० किसी मूर्ति वा चित्र में दिखाया गया सबसे पीछे का भाग जो अंकित दृश्य वा घटना का आश्रय होता है (बकग्राउंड)।

मोहरा—सं० **ओपनी**, एशब वा अकीक पत्थर की एक छोटी-सी गुल्ली जिससे रगड़ कर चित्र पर के सोने-चाँदी को ओपते वा चमकाते हैं। क्रि० **मोहरा करना,** मोहरे से घोंट कर ओप पैदा करना।

रेखांकण—सं० **रेखाचित्र** (ड्रॉइंग)।

लिखाई—सं० चित्र-विन्यास; चित्रांकण की क्रिया का भाव।

वजन—सं० भार; वह अधिकता जिसके कारण चित्र का एक अंग दूसरे से न्यून या विषम हो जाय।

वर्णिका—सं० अमुक-अमुक रंगों का समवाय जो किसी चित्र वा शैली में विशेष रूप से बरता जाय। देखिए **वर्णिकाभंग** पृ० ६।

शबाहत—सं० किसी रूप की विशेषताएँ।

शबीह—सं० व्यक्तिचित्र, किसी रूप का तद्वत् अंकन।

शैली—सं० **कलम**; चित्रों का कोई वर्ग जिनकी विशेषताओं में अंकन-सिद्धांत एवं चित्रकारों की मनोवृत्ति की एकता के कारण साम्य हो।

संयोजन—सं० किसी अंकन में प्रभाव एवं रमणीयता उत्पन्न करने के लिये आकृतियों को ठीक ठिकाने 'बैठाना' (= जुड़ाना)।

हमवजन—सं० भारसाम्य; चित्र के सब अंगों में समानता।

उस्ताद रामप्रसाद

को

'बलिहारी गुरु आपकी, गोविँद दियो दिखाय'

गुरुपूर्णिमा, '६६
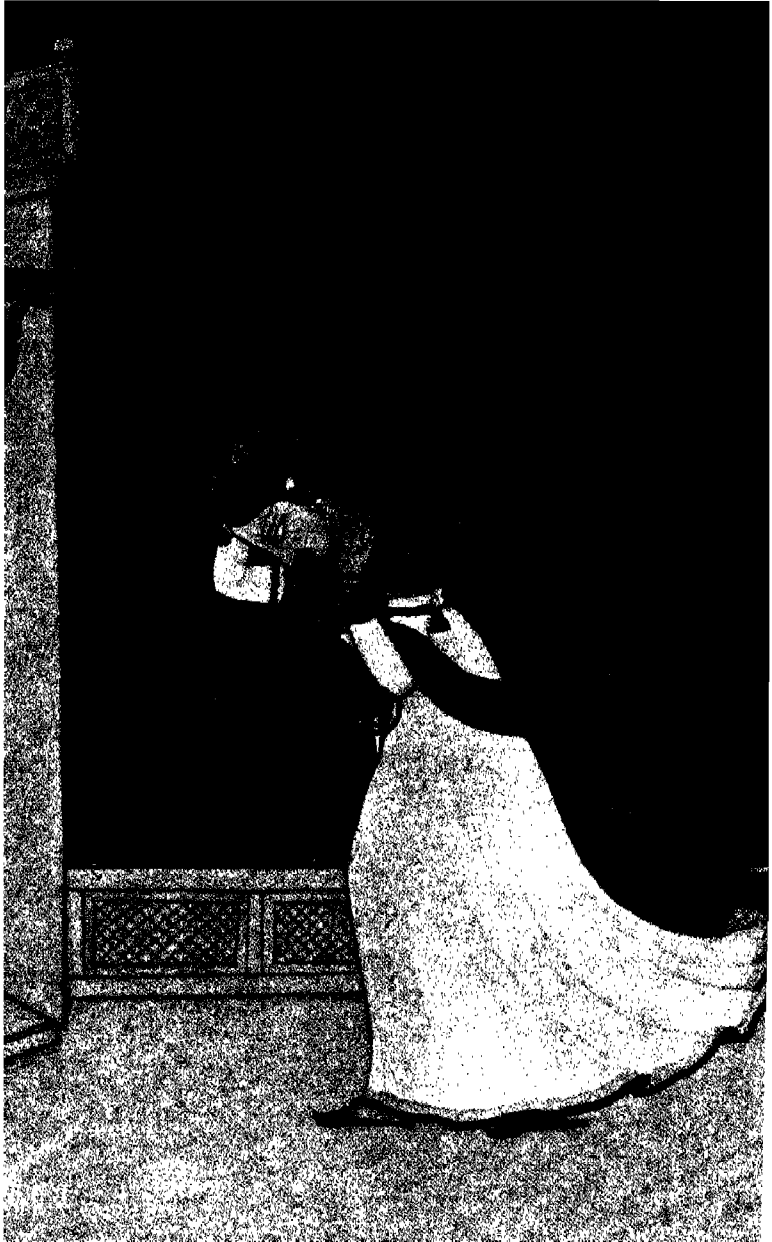
भारत की चित्रकला

पहला अध्याय

§ १. **परिभाषा**—एक तल (सतह) पर, चाहे वह सम हो वा असम, पानी वा तेल में घोले हुए अथवा सूखे, एक वा एकाधिक रंग से आलेखन करके आकृति एवं लंबाई, चौड़ाई तथा मुटाई दरसाने को चित्रण कहते हैं। उक्त आधारभूत सतह मुख्यतः पत्थर, काठ, हाथीदाँत, चमड़ा, कपड़ा, तालपत्र वा कागद होती है।

§ २. **प्रागैतिहासिक काल, मोहनजोदड़ो आदि**—चित्रण की प्रवृत्ति मनुष्य में उस समय से है जब वह वनौकस था। अपना सांस्कृतिक विकास करने के लिये उसने संस्कृति के जिन अंगों से श्रीगणेश किया था उनमें चित्रकला भी एक थी। निदान संसार भर में आदिम मनुष्य के—वनवासी गुहा-गृही मनुष्य के—अंकित चित्र मिलते हैं। इनका सिलसिला उस समय से चलता है जब वह धातुओं का व्यवहार तक न जानता था और कड़े पत्थरों के अनगढ़ शस्त्रों और औजारों से काम लेता था। इस जमाने का आरंभ आज से दस बारह हजार बरस पूर्व वा, कुछ विद्वानों के मत से, लगभग चालीस हजार बरस पूर्व हुआ था।

ये चित्र विषय, शैली तथा सामग्री की दृष्टि से उस समय के मानव-जीवन के प्रतीक हैं। अर्थात् इनके विषय मुख्यत: जानवर, उनका आखेट करते हुए मनुष्य, आपस में युद्ध करते हुए मनुष्य एवं पूजनीय आकृतियाँ हैं। इनकी शैली आदिम है। इनकी सामग्री धातु-रंग (खनिज रंग, मुख्यत: गेरू, रामरज और हिरौंजी) हैं तथा इनके स्थान उक्त गुहा-गृह एवं खुली चट्टानें हैं।

इनमें मुख्यतः दो मनोवृत्तियाँ पाई जाती हैं—१–अपने इर्दगिर्द के जगत् की स्मृति एवं उस पर अपनी विजय का इतिहास बनाए रखना; अथच २–अपनी अमूर्त भावना को मूर्त रूप प्रदान करना। ये ही दोनों मनोवृत्तियाँ समूची मानव-उन्नति की मूल हैं।

ई० पू० ३सरी ४थी सहस्राब्दी में चीन के पीत नद से लेकर लघु एशिया तक और इधर भारत तक एक ऐसी मानव सभ्यता फैली हुई थी जिसे आजकल के पुरातत्त्ववेत्ता रँगे मिट्टी के बर्तनों की सभ्यता कहते हैं। उक्त क्षेत्रों में जो मानव-समाज रहते थे उनके अभिजन में तथा सभ्यता की अन्य बातों में चाहे जितनी भिन्नता रही हो, किंतु इस बात में वे एक थे कि वे अपने पकाई मिट्टी के बर्तनों को बड़ी सुंदर सुंदर तरहों से अलंकृत करते थे। इन तरहों में से कितनी तो ऐसी हैं जिनमें कला अपनी आरंभिक अवस्था में है। किंतु अनेक ऐसी भी हैं जो आज के तरहों से किसी बात में पिछड़ी नहीं हैं; कुछ तो ऐसी हैं जो एक पग आगे बढ़ी हैं।

भारत में इस कला के प्रतिनिधि नाल (बलूचिस्तान) तथा सिंध काठे के मोहनजोदड़ो, हड़पा और चानूदड़ो में पाए गए मिट्टी के बरतन हैं। ऐसा अनुमान होता है कि यह संस्कृति गंगा-यमुना और नर्मदा के काँठों तक फैली हुई थी। इन बर्तनों में से कुछ तो गृहस्थी के कामों में आते थे और कुछ में शव गाड़े जाते थे। इन्हें देखने से जान पड़ता है कि उन जातियों का कला-प्रेम इतना बढ़ा हुआ था कि वे अपने रोज के बरते जानेवाले पात्रों को भी सादा न देख सकते थे एवं कला उनके जीवन ही नहीं, मरण तक की संगिनी थी।

इन पात्रों पर की तरहों में ज्यामितिक आकृतियों की अर्थात् सरल रेखाओं, कोणों, वृत्तों और वृत्तांशों से बने अलंकरणों की अधिकता है। इनके सिवा फूलों, पत्तियों और पशु-पक्षियों की आकृतियों का भी उपयोग किया गया है (फलक—१,२)। मुख्यतः पशु-पक्षियों की आकृतियों से ही इस कला की आरंभिकता प्रकट होती है। इन तरहों में से कुछ ऐसी हैं जिनकी परंपरा भारतीय कला में बनी रही है। शेष में से अनेक ऐसी हैं जिनकी परंपरा फिर से चलाने की आवश्यकता है; उनके सौंदर्य के कारण।

रँगे बर्तनों के सिवा मोहनजोदड़ो में रँगी हुई मूर्तियाँ भी मिली हैं जिन्हें चित्रों के ही अंतर्गत समझना चाहिए।

अभी तक मोहनजोदड़ो आदि के इतिहास का पता नहीं लगा है। किंतु ऐसा संभव नहीं कि वहाँ की लुप्त सभ्यता का हमारी सभ्यता से कोई संबंध न रहा हो। उनकी संस्कृति का दाय हमारी संस्कृति में चला आ रहा है।

§ ३. **चित्र के प्राचीन उल्लेख**—ऋग्वेद (१।१४५) में चमड़े पर बने अग्नि के चित्र की चर्चा है। इससे हमारी चित्र-कला की परंपरा उस काल से प्रमाणित होती है। पाणिनि ने संघ-राज्यों (पंचायती राज्यों) के अंक और लक्षणों की चर्चा की है। इन लक्षणों से उन राज्यों के चिह्नों का मतलब है जो पशु, पक्षी, पुष्प, वृक्ष वा नदी, पर्वत आदि होते थे। इसी प्रकार उन्होंने

पशुओं को चिह्नित करने के लिये कुछ लक्षणों की चर्चा की है। ये सब लक्षण बिना **रेखांकण** (ड्राइंग) के नहीं बन सकते। अतएव पाणिनि के समय में अर्थात् ई० पू० ८वीं शती में भी चित्रों का पर्याप्त प्रचार रहा होगा। बुद्ध के समय में चित्रकला का इतना प्रचार था कि उन्हें अपने अनुयायियों को उसमें न प्रवृत्त होने की आज्ञा देनी पड़ी। ३सरी ४थी शती ई० पू० के बौद्ध ग्रंथ विनय-पिटक तथा थेर-थेरी गाथा में चित्रों का उल्लेख है किंतु उस समय के नमूने अभी तक नहीं मिले हैं। केवल एक नमूना मिला है जो न मिलने के बराबर है (§ ७)। परंतु ई० पू० २सरी शती और उसके बाद से चित्रों के उल्लेखों और नमूनों की संख्या बढ़ने लगती है। उनकी चर्चा में प्रवृत्त होने के पहिले, यहाँ पर थोड़े में अपने यहाँ के चित्र-विषयक सिद्धांत, चित्रों के भेद एवं उनका उद्देश्य बता देना आवश्यक है।

§ ४. **चित्र के छः अंग**—वात्स्यायन के कामसूत्र पर यशोधर नामक एक प्राचीन विद्वान् ने टीका की है। उसमें चित्र-कला की व्याख्या करते हुए उसने पहले का एक श्लोक उद्धृत किया है जिसमें चित्रकला के छः अग बतलाए गए हैं, यथा—१–रूपभेद २–प्रमाण ३–भाव ४–लावण्य-योजना ५–सादृश्य तथा ६–वर्णिका-भंग। इन छः अंगों की सूक्ष्म व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है—

१—**रूपभेद**—हर प्रकार की आकृतियों और उनकी विशेषताओं का विभेद। इसमें मानव-आकृति के लक्षण तथा अभिजात भी सम्मिलित हैं। लक्षण से तात्पर्य हिंदू सामुद्रिक की उन विशेषताओं से है जिनके होने से मनुष्य राजा, महापुरुष, योगी वा योद्धा इत्यादि होता है।

२—**प्रमाण**—इसे मुगल शैली के भारतीय चित्रकार **अंग-कद** वा **कद-कैंडा** कहते हैं। कद का तात्पर्य यह हुआ कि स्त्री का सारा शरीर उसके चेहरे की नाप से सतगुने से अधिक न होना चाहिए। इसी प्रकार पुरुष का अठगुने से अधिक नहीं। कैंड़े का तात्पर्य यह है कि अंगों में समविभक्तता हो, यह नहीं कि आँख बहुत बड़ी या छोटी, नाक बहुत लंबी या चिपटी इत्यादि। साथ ही कद के अनुपात में वे बड़े छोटे न हों। प्राचीन चित्रकारी में देवतादि तथा उच्च एवं नीच वर्गों के मनुष्यों के कदों का हिसाब अलग अलग रखा है।

३—**भाव**—यह भारतीय चित्रकारी की सर्वप्रधान विशेषता है, अतएव इस पर कुछ अधिक कहने की आवश्यकता है—कालिदास के मेघदूत का विरही यक्ष मेघ से कहता है कि संभवतः तुम मेरी पत्नी को मेरा भावगम्य चित्र बनाती हुई पाओगे। यहाँ भाव का तात्पर्य यह हुआ कि वह अपने बिछुड़े हुए पति का स्मृति-चित्र नहीं बना रही थी बल्कि उसकी अंतर्वृत्ति की पहुँच (गम), उसके अंतर्नयन की दृष्टि, उसकी कल्पना की उड़ान यक्ष की वियोगजनित मान-

सिक और शारीरिक दशा तक थी और उसे ही वह अंकित कर रही थी। स्मृति-चित्र और भावचित्र के इस सूक्ष्म भेद को भली भाँति समझ लेना चाहिए। भाव-चित्र में चित्रकार (भावुक) और चित्र के विषय (भाव्य) की, कल्पना के द्वारा एकतानता हो जाती है। इस एकतानता से चित्र में जो बात पैदा होती है वही है भाव। अर्थात् चित्रकार,चित्रित किए जानेवाले विषय की सम्यक् अनुभूति और उसके प्रति सम्यक् सहानुभूति के कारण, उसकी ऐसी आकृति अंकित करने में समर्थ होता है जिसमें वाह्य सादृश्य ही नहीं अंतस्तल का, अर्थात् स्थूल शरीर का ही नहीं प्रत्युत सूक्ष्म शरीर का **आलेखन** भी होता है। अपने यहाँ के चित्रकारों को यह सिद्धान्त अभी तक इस रूप में याद है कि—चित्र में भाव रहे, परंतु चेष्टा न रहे। चेष्टा से यहाँ चेष्टित (बनावट) का तात्पर्य है। उस्ताद रामप्रसाद इस अंतर की व्याख्या एक उदाहरण द्वारा किया करते हैं—मान लीजिए कि राम-निषाद-मिलन का एक चित्र है। यदि देखनेवाले पर उसका यह प्रभाव पड़ता है कि गुह सच्ची भक्ति-भावना और दीनता से भगवान् का स्वागत कर रहा है कि आज मुझे भवसागर से पार कर देनेवाला आ गया तो समझना चाहिए कि चित्रकार भाव के अंकन में समर्थ हुआ है। किंतु यदि चित्र देखने में ऐसा लगता है कि निषाद गिड़गिड़ाकर आवभगत तो कर रहा है लेकिन मौका पाते ही वह राम-

चंद्र को मूस-मास कर किस्सा खतम कर देगा तो यह चित्र में भाव नहीं, चेष्टा हुई। अर्थात् पहले में उसकी मनोवृत्ति का भी अंकन रहता है और दूसरे में केवल उसके अभिनय का। अन्य शब्दों में पहले में चित्रकार की अनुभूति गुह की मनोवृत्ति का साक्षात्कार करके उसे व्यक्त करने में समथ होती है, किंतु दूसरे में उसकी पहुँच केवल निषाद के अभिनय तक रह जाती है।

चित्रकार की इस भावाभिव्यक्ति की सहृदय देखनेवाले को जो अनुभूति होती है अर्थात् चित्रकार अपनी ऐसी कृति द्वारा दर्शक के मन में जो भावोदय करता है वही साहित्यशास्त्र का 'रस' है।

४—**लावण्य-योजना**—भाव के साथ लावण्य की योजना भी होनी चाहिए। भाव का संबंध तो आंतरिक विकारों से है। लावण्य वाह्य सौंदर्य का व्यंजक है। इसलिये चित्र में भाव के साथ साथ लुनाई की सृष्टि भी होनी चाहिए। मुगल शैली के भारतीय चित्रकार का सिद्धांत है कि **शबीह** (व्यक्ति-चित्र) सुंदर होकर मिलनी चाहिए अर्थात् **शबाहत** जाने न पावे, साथ ही उसमें खूबसूरती भी पैदा हो जाय। यही है चित्र में लावण्य-योजना। शकुंतला से ज्ञात होता है कि खिलौनों को कालिदास के समय में लावण्य कहते थे (शकुंत-लावण्यं आनय)। इसका तात्पर्य यह हुआ कि शकुंत पक्षी जितना सुंदर होता है उससे भी अधिक सौंदर्य

खिलौने में होना चाहिए तभी वह कलात्मक कृति हो सकता है। लावण्य-जोजना के लिये चित्र का **संयोजन** भी ठीक होना चाहिए अर्थात्, चित्र में आकृतियाँ इस प्रकार, ठीक ठिकाने, 'बैठाई' (= जुड़ाई) जायँ कि उसमें प्रभाव एवं रमणीयता उत्पन्न हो।

५—**सादृश्य**—चित्र काल्पनिक हो वा सत्य, उसे ऐसा होना चाहिए कि देखनेवाला चित्रस्थ विषय वा चित्रस्थ व्यक्ति को तुरंत पहचान ले। प्राचीन नाटकों और कहानियों में किसी पात्र के चित्र से उसे पहचान लिए जाने की चर्चा अकसर आती है।

६—**वर्णिकाभङ्ग**—रंगों का हिसाब। किसी चित्र में रंग बटकर लगते हैं अर्थात् एक दूसरे से भिन्न होते हैं, किसी में मिलते जुलते रंग लगते हैं, किसी में चुहचुहाते रंग लगते हैं और किसी में बुते हुए। इन सबका भी चित्र के विषयानुसार यथोचित प्रयोग होना चाहिए।

§ ५. **चित्रों के प्रकार**—प्राचीन काल में अपने यहाँ मुख्यत: तीन प्रकार के चित्र बनते थे—

१—**भित्तिचित्र**, २—**चित्रपट**, और ३—**चित्रफलक**।

१—**भित्तिचित्र**, जो दीवारों पर बनाए जाते थे एवं जिनका विशेष विवरण आगे अजंता की चित्रावली के वर्णन में मिलेगा (§§१४—१६)।

२—**चित्रपट,** जो कपड़े पर और संभवतः चमड़े पर भी बनाए जाते थे और लपेटकर रखे जाते थे एवं कभी कभी दीवार पर टाँगे भी जाते थे।

३—**चित्रफलक,** जो लकड़ी, कीमती पत्थरों और हाथीदाँत[1] पर बनाए जाते थे।

इनमें से ११वीं, १२वीं शती से पूर्व के केवल भित्तिचित्र के नमूने अब प्राप्त हैं। ११वीं, १२वीं शती से चित्रित तालपत्र पोथियाँ और उनके इधर उधरवाले पटरे मिलने लगते हैं।

चित्रों के उक्त प्रकारों के सिवा **धूलि चित्र** भी उस समय बनते थे जिनकी वंशज आलकल की साँझी (मराठी—राँगोळी) है। इसमें भाँति भाँति के रंगों के चूर्ण को जमीन पर भुरक कर आकृतियाँ—मुख्यतः आलंकारिक—अंकित की जाती हैं।

आजकल जिस प्रकार अनेक मुगल चित्रों को एक जिल्द में बाँध देते हैं अथवा अनेक फोटोग्राफों का एक अलबम

१—अफगानिस्तान में हाथीदाँत के कुछ उत्कीर्ण प्राचीन मूर्ति-फलक मिले हैं, जो भारत के बने हुए हैं और बौद्धकाल में वहाँ गए थे। "इनमें हथेली से कुछ कम बड़े हाथीदाँत के फलक पर दो स्त्री-चित्र अंकित हैं। ये उत्कीर्ण नहीं हैं। इनमें सिर्फ बारीक रेखाएँ ही खोदी गई हैं। संभव है, शुरू में इनपर रंग भी रहा हो। × × इन चित्रों में अजंता के उत्कृष्ट स्त्री-चित्रों का पूर्वाभास मिलता है"।—राहुल, सोवियत भूमि, पृ० ७५०.

होता है उस प्रकार का कोई चित्राधार भी प्राचीन काल में होता था।

§ ६. **चित्र के प्रयोजन**—धार्मिक अभिव्यक्ति के सिवा प्राचीन काल में चित्रों के मुख्य उपयोग ये जान पड़ते हैं—१–ऐतिहासिक दृश्यों का संरक्षण, २–जीवन की घटनाओं का संरक्षण, ३–रसों का उद्दीपन, ४–प्रेम की अभिव्यक्ति, ५–पति, पत्नी का चुनाव तथा विवाह-संस्कार की संपन्नता एवं ६–घरों का अलंकरण। इनके सिवा संकेत चित्र भी बनते थे जिनका उपयोग पूजा इत्यादि धार्मिक कृत्यों में होता था अतएव उन्हें धार्मिक-चित्रों के अंतर्गत रखना होगा। उन चित्रों में मूर्तियाँ न बनाकर उपास्य देवता के प्रतीकों से उनकी अभिव्यक्ति कर दी जाती थी।

गृहस्थों के घरों में उत्कट रसों के चित्रों का बनाना वा रखना अमांगलिक कहा गया है। ऐसे चित्र केवल राजसभाओं वा देवमंदिरों में बनते थे अर्थात् ये स्थान उस समय के सार्वजनिक चित्रालय थे।

§ ७. **जोगीमारा गुफा के भित्तिचित्र**—भित्तिचित्र के सबसे प्राचीन उपलब्ध नमूने सरगुजा रियासत की जोगीमारा गुफा में हैं। इस गुफा के अभिलेखों की लिपि डा० ब्लाख के मत से ३सरी शती ई० पू० की है, यद्यपि कुछ विद्वान् उसे तनिक पीछे की मानना चाहते हैं। इस गुफा के पड़ोस में ही सीताबोंगा गुफा है जो एक प्रेक्षागार (नाट्यशाला) है। पहले जोगीमारा गुफा इस प्रेक्षा-

गार की नटियों का विश्रामगृह समझी गई थी, किंतु उसके अभिलेख का अब जो अर्थ किया गया है तदनुसार वह वरुण का मंदिर है जिसकी सेवा में एक देवदर्शिनी (=जिसे देवता प्रत्यक्ष दर्शन देता था) रहती थी। इसी गुफा में उसी के समय के (३सरी शती ई० पू०) वा उसके कुछ बाद के चित्र भी अंकित हैं जो ऐतिहासिक काल की भारतीय चित्रकला के प्राचीनतम उपलब्ध नमूने हैं। किंतु उन चित्रों की सुंदर रेखाएँ उनके ऊपर फिर से खींचे गए भद्दे चित्रों में छिप गई हैं। बचे खुचे अंशों से अनुमान होता है कि वहाँ के कुछ चित्रों का विषय जैन था।

§ ८. **शुंग-काल**—२सरी शती ई० पू० के वाङ्मय से पता चलता है कि उस समय हमारे जीवन का चित्रकला से घनिष्ठ एवं गंभीर संबंध था। वर-वधू की अनुपस्थिति में चित्र बनाकर उनका विवाह संस्कार संपन्न किया जाता है एवं ऐतिहासिक घटनाओं के चित्र बनाकर रखे जाते हैं। लोगों को इन चित्रों की खूबियों—वर्णाढ्यता, भावोपपन्नता आदि की निगाह है और वे इन विशेषताओं का विवेचन करते हैं[1]। इसी काल के महाभाष्य में कृष्ण-लीला के चित्रों के प्रदर्शन की चर्चा है।

१—इन सब बातों का पता भास के नाटकों से चलता है—'प्रतिज्ञायौगंधरायण' के अंत में उज्जैन का राजा चंडमहासेन अपनी कन्या वासवदत्ता और वत्स के राजा उदयन का चित्र-फलक रखकर

जातकों में, मुख्यतः उम्मग जातक में चित्रों का बड़ा ब्योरेवार वर्णन है। किंतु जातकों का समय बड़ा संदिग्ध है। कुमारस्वामी के अनुसार उक्त जातक का समय कुषाण काल से पूर्व अर्थात् ईसवी सन् के पहले है। इसमें सभामंडपों एवं राज-प्रासादों के चित्रों का उल्लेख है। विशेषतः एक चित्रित सुरंग के विषय में लिखा है कि चतुर चितेरों ने उसमें इंद्र के वैभव, सुमेरु-मंडल, समुद्र, चारों महाद्वीप, हिमालय, अनवतप्त सरोवर, सूर्य, चंद्रमा, चारों दिक्पाल एवं सातों भुवनों के चित्र बनाए थे जिनके कारण वह देवसभा सुधर्मा-जैसी दीखती थी।

§ ६. **शुंग तथा कुषाण-कालीन अजंता के चित्र-** (१०० ई० पू०-२०० ईसवी)—ऐसी आशा करनी चाहिए कि हममें

वैवाहिक कृत्य पूरा करता है, क्योंकि वासवदत्ता उदयन के संग पहले ही वत्स चली गई है। इस कथानक के लिये देखिए, ना. प्र. प. (नवीन०), भाग ४, पृ० १६८-१७५। 'दूतवाक्य' में जब कौरवों के यहाँ संधि का उद्योग करने के लिये कृष्ण आनेवाले हैं तो उनके अभ्युत्थान से बचने के लिये दुर्योधन द्रौपदी-चीर-हरण का चित्र मँगा कर देखने लगता है और उसकी भाव-उपपन्नता, वर्ण-आढ्यता की प्रशंसा करने लगता है; देखिए वही, पृ० १५६-१६२। 'प्रतिज्ञायौगंधरायण' के तीसरे अंक में भी वर्णयोजना के निरीक्षण की चर्चा है।

से अधिकांश ने कम से कम इतना तो अवश्य सुना होगा कि अपने देश में कहीं अजंता नाम का एक स्थान है जहाँ प्राचीन चित्र बने हुए हैं। किंतु जिन्हें इतना ज्ञान है उन्हें इसका गर्व नहीं, लज्जा होनी चाहिए। अजंता के चित्र विश्व मात्र की चित्रकला की सर्वश्रेष्ठ कृतियाँ हैं—यह न समझना चाहिए कि वे हमारे देश में हैं और हमारे पुरखों की बनाई हुई हैं इसलिये हम ऐसा कह रहे हैं। संसार के बड़े से बड़े कला-मर्मज्ञों को यह बात माननी पड़ी है। अस्तु, अजंता का अधिक परिचय आगे दिया जायगा (§ १२)। यहाँ केवल इतना कहना है कि वहाँ की ९वीं तथा १०वीं गुफा में १०० ई० पू० से २०० ई० तक के कतिपय खंडित चित्र बचे हैं। इनमें वहाँ के गुप्तकालीन चित्रों की सुघरता तो नहीं है किंतु ये उनसे अधिक जानदार हैं।

एक राजा वा यक्ष का उदात्त चित्र उस काल की साँची, मथुरा एवं भरहुत की मूर्तियों से बहुत मिलता हुआ है। छद्दंत जातक का चित्रण भी इनमें हुआ है। यद्यपि उसमें उतना भाव तो नहीं है जितना अजंता के ही इसी विषय के गुप्तकालीन चित्र में है (§ १६), फिर भी इसमें गांभीर्य उससे अधिक है। भगवान् बुद्ध की खड़ी और बैठी हुई कई छवियाँ हैं। एक राज-समाज का चित्र भी सुंदर है। इन गुफाओं के चित्रों में पुरुषों के सिर पर के मुँड़ासे, जिनमें आगे की ओर एक पोटली सी

होती है, और भारी भारी आभूषण बिलकुल भरहुत-मथुरा शैली के हैं। इन चित्रों के देखने से जान पड़ता है कि चित्रकला उस समय काफी उन्नत हो चुकी थी। उसमें कहीं से आरंभिकता नहीं है। अंकन में विधान-संबंधी उलझनों के कारण कारीगरों को जरा भी अटक-भटक नहीं हुई है। उनकी रेखाएँ पुष्ट और बिना टूट की हैं। यह कला गुप्तकालीन सजीव साथ ही रमणीय कला की जन्मदात्री होने की पूर्ण अधिकारिणी है।

§ १०. **गुप्त-काल** (३२०-५२८ ई०)–दूसरी शती के बीतते न बीतते भारत के स्वर्ण दिवस का अरुणोदय होने लगता है। ७८ ई० के बाद कुषाणों से अपनी स्वतंत्रता की रक्षा के लिये यादव-वंश के नाग क्षत्रिय नर्मदा के दक्खिन जंगलों में जा बसे थे। वहाँ दूसरी शती के मध्य (लग० १४०—१७० ई०) में भवनाग नामक राजा हुआ। उसने वहाँ से बढ़कर कुषाण-साम्राज्य के पूर्वी छोर को जीत लिया और कांतिपुरी (मिर्जापुर के पास आधुनिक कंतित) में अपना राज्य स्थापित किया। फिर तो इस वंश ने कुषाण-सत्ता की रीढ़ तोड़ दी। इसने जो काम बाकी छोड़ा उसे इसके उत्तराधिकारी वाकाटक वंश ने पूरा किया और तीसरी शती की समाप्ति के पहले कुषाणों के उत्तराधिकारी क्षत्रपों तक की सत्ता निःशेष हो गई। इस बीच साकेत-प्रयाग प्रदेश में एक नई महाशक्ति का उदय हो रहा था।

२७५ ई० के लगभग वहाँ गुप्त नामक एक राजा था जिसके पौत्र चंद्रगुप्त (२१६—२४० ई०) का विवाह लिच्छिवि (तिरहुत) के गणतंत्र शासकों की एक कन्या से हुआ। यह संबंध गुप्तवंश के उत्कर्ष का एक मुख्य कारण हुआ। चंद्रगुप्त का पुत्र समुद्र-गुप्त हुआ (लग० ३४०—३८० ई०)। उसने भारतवर्ष विजय करके अश्वमेध यज्ञ किया। भारत में उसका साम्राज्य स्थापित होने पर काबुल और तुखारिस्तान के कुषाणवंशी राजा ने तथा सिंहल आदि सब भारतीय द्वीपों के राजाओं ने भी उसे अपना अधिपति स्वीकार किया।

समुद्रगुप्त जैसा बड़ा विजेता था वैसा ही सुशासक भी था। कला और संस्कृति का भी वह बहुत बड़ा पोषक और उन्नायक था। स्वयं बीन बजाता था और कविता करता था। उसके दर-बारी कवि हरिषेण की रचना उच्च कोटि की है। इसके बाद गुप्तवंश का उत्कर्ष उत्तरोत्तर बढ़ता गया।

समुद्रगुप्त का पुत्र चंद्रगुप्त विक्रमादित्य (लग० ३८२-४१५ई०) अपने पिता से भी अधिक समृद्ध, सुसंस्कृत और वैभवशाली हुआ। उसने अपने साम्राज्य से प्राणदंड उठा दिया था। कालिदास संभवतः उसी के समय में थे। यह काल भारत के लिये अत्यंत गौरव का था। यदि हम कहें कि न तो इसके पहले देश की इतनी उन्नति हुई थी और न पुनः कभी, तो अत्युक्ति न होगी।

समुद्रगुप्त ने अपने दिग्विजय में वाकाटक-साम्राज्य जीतने के बाद उसके चेदि प्रांत का दक्षिणी भाग तथा महाराष्ट्र प्रांत तत्कालीन वाकाटक-सम्राट् रुद्रसेन के पास रहने दिया था। इस प्रकार छोटा हो जाने पर भी वह साम्राज्य काफी समृद्ध था। फिर समुद्रगुप्त ने अपनी कन्या प्रभावती गुप्ता उक्त रुद्रसेन के पौत्र द्वितीय रुद्रसेन से ब्याह दी। इस प्रकार गुप्त और वाकाटक साम्राज्य स्नेह-शृंखलित हो गए। जिस समय उत्तर भारत में चंद्रगुप्त विक्रमादित्य का सुराज्य था उसी समय वाकाटक राज्य पर, अपने पति की मृत्यु के कारण, अपने नाबालिग बेटे के अभिभावक-रूप में प्रभावती गुप्ता राज्य कर रही थी। इस प्रकार सांस्कृतिक दृष्टि से गुप्त-प्रभाव वाकाटक-राज्य पर भी व्याप्त था।

चंद्रगुप्त के पुत्र कुमारगुप्त (४१५–४५५ ई०) ने चालीस वर्ष राज्य किया। इस समय भी भारत में वही अभूतपूर्व शांति, समृद्धि और संस्कृति विद्यमान थी। कुमारगुप्त ने नालंदा में एक महाविहार की स्थापना की जो आगे चलकर वहाँ के महान् विश्वविद्यालय के रूप में परिणत हुआ।

किंतु इस सुख शांति में उत्तर-पच्छिमी सीमांत पर हूणों के खूनी बादल घिर रहे थे। कुमारगुप्त के पुत्र और उत्तराधिकारी सम्राट् स्कंदगुप्त (४५५-४६७ ई०) के समय में यह प्रलयघटा पंजाब तक छा गई। किंतु स्कंद ने इस दुर्दिन से देश की रक्षा

की। स्कंद के बाद गुप्त वंश का प्रताप सूर्य ढलने लगा। ५२८ ई० में उसका स्थान 'जनता के नेता' सुप्रसिद्ध यशोधर्मा ने लिया और देश से हूणों का कंटक पूर्ण रूप से निकाल फेंका।

§ ५१. **गुप्त-कला** (३२० – ६०० ई०)—गुप्तों का कला-प्रेम और उत्कृष्ट रुचि उनकी और उनके युग की प्रत्येक कृति से टपकती है। उनके सोने के सिक्कों पर उनकी मूर्तियों का तथा उनके जीवन की घटनाओं एवं उनके आराध्य देवताओं का बड़ा सजीव तथा कलापूर्ण अंकन हुआ है। ये सिक्के अधिकतर सोने के हैं। इनसे बढ़कर भारतीय सिक्के नहीं बने। इनकी तुलना में यदि कुछ ठहरते हैं तो अकबर और जहाँगीर के अलंकृत और आकृतिवाले सिक्के। गुप्तों ने अनेक सुंदर मंदिर और मूर्तियाँ बनवाईं। अशोकीय लाठ के ऐसे विशाल लाठ खड़े किए, जिनको प्रथा शुंग-काल से उठ गई थी। लोक ने भी इसी प्रभाव के कारण अद्वितीय कला-कृतियाँ बनाईं।

कला का यह उत्कर्ष गुप्त-साम्राज्य के निःशेष हो जाने पर भी लगभग सौ वर्ष तक बना रहा। फलतः, जहाँ तक कला का संबंध है, ३२० ई० से ६०० ई० तक वा उसके कुछ बाद तक, गुप्त-काल गिना जाता है। अजंता का सर्वोत्कृष्ट चित्रण इसी काल में हुआ। यद्यपि अजंता वाकाटक-साम्राज्य में थी और गुप्त मूर्तिकला भी वाकाटक मूर्तिकला की ही परंपरा में है, किंतु गुप्त इतने सुसंस्कृत

थे और उनकी कलाभिरुचि इतनी ऊँची और सक्रिय थी कि उस काल की समूची कलाकृति पर गुप्त प्रभाव मानना पड़ेगा और इसी कारण उसे गुप्त-कला कहना पड़ेगा। अतः अजंता के इस काल के चित्रों को वाकाटक शैली के न कहकर गुप्त शैली के ही कहना उचित है।

इस काल के बाद हमारी चित्र-कला का इतिहास और उसके उदाहरण न्यूनाधिक शृंखलाबद्ध मिलते हैं।

दूसरा अध्याय

§ १२. **अजंता का परिचय**—जी० आई० पी० एवं ताप्ती-वैली रेलवे के जलगाँव, निजाम-रेलवे के औरंगाबाद तथा पचोरा-जामनेर रेलवे के पहूर स्टेशनों से सुगमतापूर्वक अजंता तक पहुँच सकते हैं। इन स्टेशनों से फरदापुर नामक ग्राम तक जाना होगा। उसी के निकट पहाड़ियों में अजंता के कलामंडप छिपे पड़े हैं। ये निजाम-राज्य में हैं।

फरदापुर से चार मील की दूरी पर पहाड़ियों में बाघोरा नदी बहती है जिसे अजंता जाते समय एक बार पार करना पड़ता है। नदी में सर्पाकार इतने घुमाव हैं कि जब तक आप एकदम पास न पहुँच जायँ तब तक गुफाओं का गुमान भी नहीं होता। नदी का अंतिम घुमाव समाप्त होते ही प्रायः तीन सौ फुट ऊँचा, वर्तुलाकार दीवार-सा खड़ा, एक टीला पहाड़ से निकला दिखाई देता है जो एक गगनचुम्बी प्रासाद सा लगता है। उसके बीचोबीच बारहदरियों की एक कतार सी दिखाई देती है। ये ही अजंता

की गुफाएँ हैं जो प्रवेश-द्वार से लेकर ठेठ अंत तक भक्ति, उपासना, धैर्य, प्रेम और लगन एवं हस्त-कौशल की संसार भर में सबसे अपूर्व उदाहरण हैं। यहाँ मूर्ति, चित्र और वास्तु कलाओं में एक ही उच्च एवं पवित्र भावना सुसंबद्ध श्रृंखला के रूप में स्फुट हुई है जिसकी सफलता संसार भर में अतुल है। एकांत और प्राकृतिक सौंदर्य की दृष्टि से भी अजंता अद्वितीय है। नीचे नदी बहती है। उसमें बड़े बड़े शिलाखंड हैं। उनसे टकराता हुआ पानी गुफाओं के ठीक नीचे एक कुंड में इकट्ठा होता है। घाटी में चारों ओर हरसिंगार का जंगल है। साथ ही और भी अनेक प्रकार के पुष्प और फल यहाँ उत्पन्न होते हैं। इसी कारण चित्र-विचित्र पक्षियों का एक मेला सा लगा रहता है। कला की अभिव्यक्ति के लिये जिन लोगों ने ऐसे अपूर्व स्थान को चुना उनके चरणों में शत शत प्रणाम है। यहाँ के प्राकृतिक सौंदर्य का पूर्ण विकास अक्तूबर से दिसम्बर तक होता है।

अजंता में छोटी बड़ी कुल उनतीस गुफाएँ हैं। इनके दो भेद हैं—एक स्तूप-गुफा, दूसरी विहार-गुफा। स्तूप-गुफा में केवल प्रार्थना या उपासना की जाती थी इसलिये वह अधिक लंबी होती है और उसके अंतिम छोर पर एक स्तूप होता है जिसके चारों ओर प्रदक्षिणा करने भर का स्थान होता है। वहाँ से द्वार तक दोनों ओर खंभों की पंक्ति रहती है। अजंता की १६वीं गुफा

वहाँ की सबसे बड़ी स्तूप-गुफा है और उसका द्वार बड़ा ही भव्य एवं रमणीय है। विहार-गुफा भिक्खुओं के रहने और अध्ययन के लिये होती थी। ये दोनों प्रकार की गुफाएँ और इनमें का सारा मूर्ति-शिल्प एक ही शैल में कटा हुआ है किंतु क्या मजाल कि कहीं पर एक छेनी भी अधिक लगी हो। इस दृष्टि से सभी गुफाएँ अत्यंत उत्कृष्ट हैं किंतु गुफा नं० १ का, जो एक सौ बीस फुट तक भीतर काटी गई है, कौशल तो एक अचंभा है। प्राय: सभी गुफाओं में चित्र बने हुए थे जिनमें में से १,२,१६ और १७वीं गुफाओं के चित्रों के विशेष अंश बचे हैं। सौभाग्यवश ये सभी गुफाएँ गुप्तकालीन हैं। शेष गुफाओं में कहीं किसी का सुंदर मुख, कहीं खंडित हाथ-पैर, कहीं घोड़े-हाथी वा उनके सवारों के अंग इत्यादि बच गए हैं।

§ १३. **अजंता का पुनः आविष्कार और जीर्णोद्धार**–हजारों बरस के अज्ञातवास के बाद संसार को अजंता का फिर से पता १८२४ ई० में लगा जब जनरल सर जेम्स ने जाकर उसे देखा और उसका संक्षिप्त लिखित परिचय रायल एशियाटिक सोसाइटी को दिया। १८४३ ई० में भारतीय वास्तु और मूर्त्ति के प्रेमी फर्ग्युसन ने उसका विशद विवरण लिखकर विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया। फलस्वरूप १८४४ ई० से १८५७ ई० तक ईस्ट इंडिया कंपनी ने वहाँ के चित्रों की करीब तीस प्रतिलिपियाँ तैयार कराईं जो इँगलैंड के

क्रिस्टल पैलेस में प्रदर्शित की गईं। किंतु अभाग्यवश १८६६ ई० में आग लगने के कारण वे जल गईं। यदि वे बची होतीं तो आज अजंता के चित्रों का ऐसा बहुत सा अंश हमें उपलब्ध होता जो तबसे, झड़कर वा दूसरी तरह नष्ट हो गया है। १८७२ ई०-१८८१ ई० में बंबई आर्ट स्कूल के प्रिंसिपल ग्रिफ़ित्स ने स्कूल के विद्यार्थियों की सहायता से पुनः वहाँ की प्रतिकृतियाँ तैयार कीं जो दो बड़ी जिल्दों में, विवरण के साथ, प्रकाशित की गईं। ये चित्र भी लंदन में भारत-मंत्री के दफ्तर में भेज दिए गए किंतु इन्हें भी इँगलैंड का प्रवास न रुचा और ये भी भस्म हो गए। इसके बाद १६१५ ई० में लेडी हेरिंघम् कई भारतीय चित्रकारों के साथ—जिनमें श्री नंदलाल बोस भी थे—वहाँ गईं और अनेक कठिनाइयों में उन्होंने वहाँ के कितने ही घटनामूलक चित्रों की नकल करवाई। लंदन की इंडिया सोसाइटी ने निजाम सरकार की सहायता से इन प्रतिकृतियों का एक संस्करण निकाला। इसी समय से निजाम सरकार ने इन गुफाओं की ओर ध्यान दिया। फलतः वहाँ जो कुछ बचा है उसके संरक्षण और देखने का बढ़िया से बढ़िया प्रबंध हो गया है। श्री सैयद अहमद वहाँ के अध्यक्ष नियुक्त हुए। वे लेडी हेरिंघम् के चित्रकारों के दल में थे। अध्यक्ष होने के बाद उन्होंने वहाँ के चित्रों की जो नकल की हैं वे सबसे प्रामाणिक और तद्वत् हैं। १६२६ ई० में औंध-नरेश श्रीमान् बाला साहब पंत प्रतिनिधि

ने भिन्न भिन्न प्रांत के अनेक चित्रकारों से, वर्त्तमान समय के समस्त साधनों की सहायता से, गुफा के कुछ चित्रों की नकल कराई और अँगरेजी तथा मराठी में उनके संस्करण निकाल कर उन्हें अपेक्षाकृत सुलभ कर दिया। निजाम-सरकार ने भी वहाँ के कुछ सुलभ पोस्टकार्ड निकाले हैं और चार जिल्दों में, बड़े आयोजन के साथ, एक प्रामाणिक चित्रावली निकाल रही है।

§ १४. **अजंता का चित्रण-विधान**—यह विधान सूक्ष्म रूप में इस प्रकार था कि दीवार या पाटन में जहाँ चित्रण करना होता था वहाँ का पत्थर **टपर** कर खुरदरा बना दिया जाता था जिस पर गोबर, पत्थर का चूर और कभी कभी धान की भूसी मिले हुए गारे का लेवा चढ़ाया जाता था। यह लेवा चूने के पतले पलस्तर से ढका जाता था और इस पर जमीन बाँधकर लाल रंग की रेखाओं से चित्र **टीपे** जाते थे जो रंग लगाकर तैयार किए जाते थे। ऐसा अनुमान होता है कि मूर्तियों पर भी पतला पलस्तर करके रँगाई की हुई थी।

§ १५. **अजंता के, गुप्त-शैली के चित्रों की मुख्य विशेषताएँ**—इन चित्रों की तैयारी की **खुलाई** (रूपरेखा) बहुत जोरदार, जानदार और लोचदार है। उसमें भाव के साथ साथ वास्तविकता है एवं उसमें चीन की तथा उससे उत्पन्न जापानी और ईरानी चित्रकारी की वे सपाटेवाली कोण-दार रेखाएँ नहीं हैं जिनका

उद्देश्य भाव की अभिव्यक्ति के बदले अलंकरण ही होता है। रंगों की योजना प्रसंगानुकूल, बड़ी आढ्य और चित्ताकर्षक है—कहीं फीके वा बेदम रंग नहीं लगे हैं। आवश्यकतानुसार उनमें विविधता भी है। यथोचित हलका साया लगाकर चित्रों के अवयवों में गोलाई, उभार और गहराई (डौल) दिखाई गई है। हाथ-पाँव, आँख और अंग-भंगी की भाषा से अर्थात् भाव बताने की भाषा से, दूसरे शब्दों में हाथ की मुद्राओं से, आँख की चितवनों से और अंगों के लचाव तथा ठवन से अधिकांश भाव व्यक्त हो जाते हैं।

यद्यपि इन चित्रों का विषय सर्वथा धार्मिक है और इनमें वह विश्व-करुणा अथ से इति तक पिरोई हुई है जो भगवान् बुद्ध की भावना की मूर्त रूप है, फिर भी जीवन और समाज के सभी अंगों और पहलुओं से इनकी इतनी एकतानता है कि वे सभी अंग और पहलू इनमें पूरी सफलता से अंकित हुए हैं। इतना ही नहीं, सारे चराचर जगत् से यहाँ के कलाकारों की पूर्ण सहानुभूति है और उन सबको उन्होंने पूरी सफलता से अंकित किया है (आकृति—१)।

मनुष्यों के रूपों के भेद और उनका आभिजात्य दिखाने में चित्रकारों ने कमाल किया है, अर्थात् भिक्षुक ब्राह्मण, वीर सैनिक, देवोपम सुंदर राजपरिवार, विश्वसनीय कंचुक और प्रतिहार, निरीह सेवक, क्रूर व्याध, निर्दय वधिक, प्रशांत तपस्वी, साधुवेशधारी

धूर्त्त, कुलांगना, वारवनिता, परिचारिका आदि के भिन्न भिन्न मुख-सामुद्रिक और अंग-कद की कल्पना उन्होंने बड़ी मार्मिकता
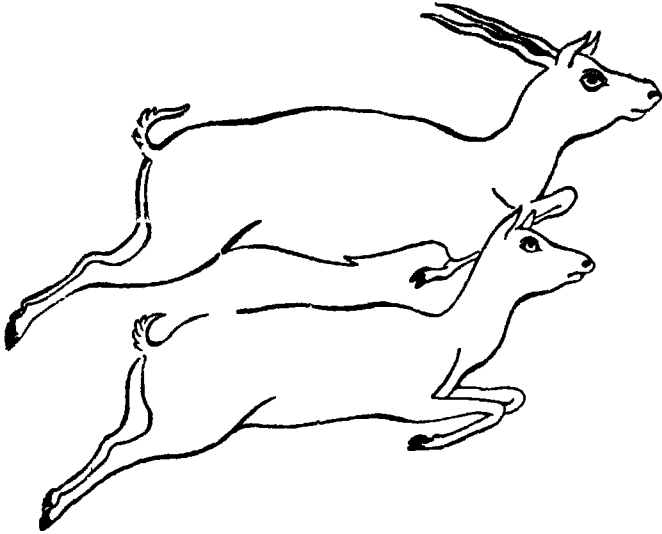
आकृति–१

से की है। क्रोध, प्रेम, लज्जा, हर्ष, उत्साह, घृणा, भय, चिंता आदि भाव भी इसी प्रकार बड़ी खूबी से दरसाए गए हैं।

यदि कलावंत ने सौंदर्य की पूर्ण अभिव्यक्ति की है तो विरूप और भयंकर का आलेखन भी उसी सहानुभूति के साथ किया है अर्थात्, उसके लिये सुरूप और विरूप दोनों ही में समान सौंदर्य है। इस कला में ओज और सौकुमार्य्य दोनों ही की, समान सफलता के साथ व्यंजना हुई है। सबसे विशिष्ट बात यह है कि इसमें

कहीं से भी अनावश्यक अलंकरण छू नहीं गया है; क्या चित्रस्थ पात्रों की वेश-भूषा में और क्या खड़हर (रिक्त स्थान) की पूर्ति के लिये जो **तरहें** बनी हैं उनमें।

तरहों की तो अजंता खान है। छतों में आकाश के **अभिप्राय** वाले फुल्ल महाकमलों के चौके, जिनके चारों कोनों पर दिगंतों में अंतरिक्ष-विहारी देव-योनि बने हैं, पचासों प्रकार के होंगे। कमल के जंगल की बेलें (आकृति–२), कमलों की मुर्रियाँ, आलंकारिक पत्ते की पूँछवाली गौओं की लपेटदार बेल (आकृति–३), **गो-मूत्रिका,** झालर, बंदनवार, आदि न जाने कितनी ही प्रकार की **तरहों** से यह

आकृति–२

आकृति—३

चित्रसारी भरी हुई है। उनमें स्थूल एवं खर्व मानवों; हाथी, बैल, हंस आदि पशु-पक्षियों; आम इत्यादि फलों; रेखाओं और वृत्तों की ज्यामितिक आकृतियों का स्थान स्थान पर उपयोग किया गया है किंतु प्रधानता कमल की है जो अनेकरूप होकर सर्वत्र व्याप्त है।

§ १६. **अजंता के, गुप्त शैली के कतिपय चित्र**–१ली गुफा में की एक दालान की समूची दीवार पर प्राय: बारह फुट ऊँचा और आठ फुट चैाड़ा मार-विजय का चित्र अंकित है। 'मार' (=प्रलोभन, कामदेव, शैतान) की सेना भगवान् बुद्ध को घेरे हुए है। इस सेना में भगवान् के डराने, क्रुद्ध करने, क्षुब्ध तथा लुब्ध और सकाम करने के लिये विकटातिविकट मूर्तियों से लेकर अनेक कामिनियाँ तक बनी हैं जो अपने अपने उपायों से भगवान् को, जो मध्य में स्थित हैं, विचलित करने में प्रवृत्त हैं किंतु वे सर्वथा आत्मानरत हैं। उनके लिये चारों ओर कुछ हई नहीं है वा होही नहीं रहा है।

इस गुफा में केवल संध्या के समय सूर्य की अंतिम किरणें प्रवेश पाती हैं। अतएव बड़ा आश्चर्य होता है कि यहाँ ऐसे ऐसे चित्र कैसे अंकित किए गए होंगे।

चंपेय जातक की कथा है कि बोधिसत्त्व ने किसी समय नाग-राज का जन्म लिया था और संयोगवश बंदी होकर काशी की हाट में बेचने के लिये लाए गए थे। उन्हें उस परिस्थिति से

छुड़ाकर काशिराज अपने यहाँ ले गए और उनके सारे परिवार को भी निमंत्रित किया। इसका चित्र भी उक्त गुफा में है। एक ओसारे में नागराज तथा काशिराज एक राजासन पर आसीन हैं। चारों ओर राज-महिलाएँ तथा राज-परिकर घेरे हुए हैं। नागराज काशिराज को उपदेश दे रहे हैं। चित्र के प्रत्येक व्यक्ति का भाव और मुद्रा बड़ी सफलता से अंकित है एवं उसका **संयोजन** गथा हुआ है।

यहीं पर अवलोकितेश्वर का विशाल चित्र है। दायें हाथ में नील कमल धारण किए किंचित् त्रिभंग-युक्त भगवान् तात्त्विक विचार में मग्न हैं। अनेक समस्याएँ उनके हृदय में आंदोलित हो रही है। विश्व-करुणा से वे ओत-प्रोत हैं। उन भावों को चित्र-कार ने पूर्ण सफलता से उनके मुख-मंडल पर लिखा है। देव-सृष्टि, मानव-सृष्टि, विशेषतः उनकी अर्धांगिनी यशोधरा पर उनके इन भावों का जो प्रभाव पड़ रहा है वह भी बड़ी कुशलता से दिखाया गया है।

१६वीं गुफा के दो चित्र उल्लेखनीय हैं—गहरी रात में भगवान् बुद्ध गृह-त्याग कर रहे हैं। यशोधरा और उनके संग शिशु राहुल सोया हुआ है। पास की परिचारिकाओं पर भी निद्रा ने अपनी मोहिनी डाल रखी है। इस दृश्य पर एक निगाह डालते हुए बुद्धदेव अंकित किए गए हैं। उस दृष्टि में मोह-

ममता नहीं, प्रत्युत उसका अंतिम त्याग अंकित है। यही इस कृति का रहस्य है।

एक स्थान पर एक मरती हुई राजकुमारी का चित्र है। उसके बचाने के सभी उपाय अवश्यंभावी के आगे व्यर्थ हो गए हैं। मुमूर्षु की अवस्था और आसपास वालों की विकलता दर्शक को द्रवित किए बिना नहीं रहती।

अजंता की १७वीं गुफा के सभी चित्र एक से एक बढ़कर हैं। ऐसा जान पड़ता है कि सबसे चतुर चितेरों ने इसी गुफा में अपनी कला दिखाई है।

यहाँ पर एक तो माता-पुत्र का प्रसिद्ध चित्र है (फलक-५); किंतु इससे चित्र के विषय का आधा ही ज्ञान होता है। यहाँ तो हम इतना ही देखते हैं कि एक माता अपने पुत्र को किसी के सामने साग्रह उपस्थित कर रही है और पुत्र भी अंजलि-सी पसार कर उस व्यक्ति के सामने उपस्थित है; किंतु कौन है वह व्यक्ति जिसपर इन दोनों की टकटकी लगी हुई है। इन आदम-कद चित्रों के सामने एक विशाल महापुरुष स्थित है जिसके हाथ में भिक्षापात्र है। बुद्धत्व-प्राप्ति करने पर जब भगवान् पुनः कपिलवास्तु में आए तो उन्हें यशोधरा राहुल से बढ़कर और कौन सी भिक्षा दे सकती थी। आत्म-समर्पण की पराकाष्ठा का यह चित्र अपना जोड़ नहीं रखता।

यहाँ छद्दंत-जातक की चित्रावली भी बड़ी सुन्दर है। बोधिसत्त्व एक जन्म में छः दाँतोंवाले श्वेतवर्ण गजराज थे। उनके दो हथिनियाँ थीं जिनमें से एक ने सौतियाडाह-वश आत्महत्या कर ली और एक राजा के घर जन्म लिया। इस जन्म में भी उसकी डाह कम न हुई और उसने व्याधों को गजराज का सिर ले आने भेजा। यह जानकर वह आप व्याधों के सामने आ खड़े हुए। इससे व्याधों पर बड़ा प्रभाव पड़ा और वे राजकुमारी को फुसलाने के लिये उनके छहो दाँत काट लाए। इस बीच राजकुमारी के मन में प्रतिघात हुआ था, सो दाँतों को देखते ही वह मूर्छित होकर गिर पड़ी। अंत में सारे रहस्य का भेदन होता है और गजराज क्षमा का उपदेश प्रदान करते हैं। यह समूची चित्रावली ऐसी सजीव है मानों सारा दृश्य हम अपनी आँखों देख रहे हों। कमल की भाँति हाथी भी भारतीय कला का एक मुख्य अंग है। इस चित्रावली में विविध-विध प्रवृत्त हाथी के जंगल के जंगल का आलेखन है और ऐसा सफल आलेखन है कि अवाक् रह जाना पड़ता है। याद रखना चाहिए कि यह सारा अंकन भावगम्य है (§ ४ [३])।

इसी प्रकार यहाँ हाथियों की एक दूसरी चित्रावली भी है। यह गज-जातक का चित्र है, जिसकी कथा इस प्रकार है—भगवान् एक जन्म में हिमालय के श्वेत हस्ती थे। वे ही अपनी वृद्ध माता

तथा अंध पिता का पालन करते थे। प्रयाग के राजा ने गजराज की प्रशंसा सुनकर पकड़वा मँगवाया; किंतु वे कुछ खाते-पीते न थे। जब उनके इंगित से प्रयाग के अधिपति ने यह बात जानी तो उन्हें मुक्त कर दिया। शीघ्र ही वे अपने माता-पिता के पास पहुँचे। यह मिलन का दृश्य हाथियों के कौटुंबिक प्रेम, वात्सल्य और करुणा से ओत-प्रोत है।

वेस्संतर-जातक का दृश्य भी बड़ा मर्मस्पर्शी है। इसमें एक वानप्रस्थ राजकुमार से एक याचक ब्राह्मण उसके एकमात्र अल्प-वयस्क पुत्र को माँग लेता है जिसे राजकुमार सहर्ष प्रदान करता है। प्रस्तुत चित्र में क्षीण-काय ब्राह्मण का दाँत निकालकर माँगना, अपनी पर्णकुटी में बैठे वनवासी बोधिसत्व राजकुमार का बिना किसी क्षोभ वा उद्वेग के उसकी याचना स्वीकार करना और भरी देहवाले भोले बालक का इस भाव से अपने पिता का मुँह देखते रहना कि यह आदेश दें और मैं उसका पालन करूँ, बड़ी भावुकता से अंकित है (फलक—४)। यह चित्र हृदय पर करुणा की गहरी छाप लगा देता है।

एक अन्य जातक-दृश्य में युद्ध का प्रसंग बड़ी सजीवता से दिखाया गया है। इस बड़े चित्र में लगभग तीन सौ चेहरे आज भी गिने जा सकते हैं। प्रत्येक चेहरे पर युद्ध के विविध भाव देखनेवालों को चकित कर देते हैं।

एक स्थान पर आकाश-चारी दिव्य गायकों के समुदाय का बड़ा रमणीय आलेखन है (फलक—३)।

इस गुफा का सर्वस्वान्त का संदेश-विषयक चित्र भी बड़ा प्रभावोत्पादक है। अपने आसा के सहारे एक वृद्ध कंचुक खड़ा है। उसके आर्त नेत्र ही सारी कथा कह रहे हैं, मुँह से कहने की कोई आवश्यकता नहीं। दाहिने हाथ की मुद्रा से रहे-सहे की सूचना मिल जाती है। इस चित्र की रेखा रेखा में भाव और **दम खम** भरा है।

यहाँ महाहंस-जातक और सिबि-जातक आदि के भी उत्कृष्ट आलेखन हैं।

अजंता के उक्त थोड़े से चित्रों के वर्णन के यटले में का एक चावल समझना चाहिए। नहीं तो, केवल इसी वर्णन के लिये एक स्वतंत्र पुस्तक होनी चाहिए।

अजंता की चित्रकला को वा प्राचीन भारत की मूर्ति-कला को कितने ही लोग बौद्ध-कला कहा करते हैं। यह सरासर भूल है। भारत में ब्राह्मण, बौद्ध वा जैन-कला की-सी कोई वस्तु कभी नहीं रही। प्राचीन-कला पर यदि कोई प्रभाव है तो राजनीतिक कालों का। हाँ, अजंता के अनेक चित्रों के विषय अवश्य बौद्ध हैं।

§ १७. **इस काल के अन्य भित्ति-चित्र**—प्राचीन चित्रित स्थानों की अभी तक ठीक ठीक खोज नहीं हुई है। जितने भी स्थान मिले हैं, संयोगवश। अभी न जाने कितने चित्रित मंदिर

और मिलेंगे। संप्रति, भारत में अजंता के सिवा और कहीं गुप्त-कालीन चित्र नहीं पाए गए। हाँ, सिंहल के सिगिरिया (सिंह-गिरि) नामक पर्वत में, जो एक प्राकृतिक गढ़ी जैसा है, दो उथली खोह हैं जिनमें ५वीं शती के भित्ति-चित्र बने हुए हैं। पंद्रह सौ वर्ष तक हवा खाते हुए भी ये कहीं से बिगड़े नहीं। इनकी शैली अजंता के सन्निकट है। इनमें आकाश-चारिणी देवांगनाएँ अंकित हैं, जैसा कि उनके निचले धड़ तक के और चारों ओर के बादल से जान पड़ता है। वे या तो हाथों में फूलों से भरा थाल लिए हैं या पुष्पवृष्टि कर रही हैं। उनकी आकृति कांतिमती और आलेखन बड़ा सुबुक है। चित्रकार की वर्णिका पीले, हरे, काले और कई प्रकार के लाल रंगों की है।

§ १८. **गुप्तकालीन चित्रकला का वाङ्मय में उल्लेख**—यों तो अजंता की कला सर्वथा धार्मिक है, किंतु उसके विषय जितने व्यापक हैं और चित्रकारों ने उन्हें जैसी सिद्धहस्तता से अंकित किया है उससे इस संबंध में कोई संदेह नहीं रह जाता कि उन दिनों चित्रण का वस्तु (= थीम) बहुत व्यापक था और चित्रकारों को हर तरह के चित्र बनाने पड़ते थे। ऐसा तभी संभव है जब इस कला का राष्ट्र के जीवन से घनिष्ठ संबंध रहा हो। वाङ्मय से भी यही प्रमाणित होता है। कालिदास की रचनाओं से पता चलता है कि अधिकांश सुसंस्कृत स्त्री-पुरुष स्वयं चित्रण जानते थे। प्रेमी-प्रेमिका एक दूसरे का चित्र बनाते थे। वियोग में नायक-

नायिका एक दूसरे का चित्र देखकर अपना दुःख हलका करते थे। चित्र देखकर विवाह-संबंध पक्के होते थे। विवाह के साथ देवताओं के संकेत चित्र बनाकर पूजे जाते थे। शयनागार चित्रित होते थे। जीवन की घटनाओं, ऐतिहासिक घटनाओं और मृत राजाओं के चित्र अंकित होते थे। नागरिकों के घर एवं राजप्रासाद चित्रित हुआ करते थे। उनके खंभे आदि पर जो पुतलियाँ बनी रहती थीं वे भी रँगी जाती थीं। रघुवंश में उजड़ी अयोध्यापुरी के वर्णन में वहाँ के भित्ति-चित्रों में का एक दृश्य दिया है कि हाथी पद्म-वन में हैं और उनकी हथिनियाँ उन्हें मृणाल तोड़कर दे रही हैं। यह दृश्य अजंता के जल-क्रीड़ा करते हुए हाथियों से कितना मिलता है।

'मुद्राराक्षस' से, जिसका समय जायसवाल ने लगभग ४१० ई० स्थिर किया है[1], पता चलता है कि उस समय के मँगते जीवन की अस्थिरता और यमराज का त्रास दिखाने के लिये कृतांत की आकृति-वाले चित्र-पट लिए घूमा करते थे और गा गा-कर लोगों को अपना संदेश सुनाते थे। संयोग-वश अजंता में इस दृश्य का एक चित्र भी मौजूद है, जिसमें मुस्तंडे नग्न क्षपणकों का एक दल चला जा रहा है। उनमें के एक महोदय तो ऐसे मोटे हैं कि दूसरों का सहारा लेकर चल पाते हैं। इसी मंडली में एक के हाथ में एक लग्गी है जिसपर उक्त प्रकार का चित्र-पट लटक रहा है।

१—इंडियन ऐंटिक्वेरी, अक्तूबर, १६१३, पृ०, २६६।

इसी काल के कामसूत्र में नागरिक के शयनागार का वर्णन करते हुए लिखा है कि उसमें खूँटी पर चित्रण के उपकरण टँगे रहने चाहिए कि जब आवश्यकता हो, उनका उपयोग किया जाय।

§ १६. **बृहत्तर भारत में गुप्तकालीन चित्रकला**—इस समय तक भारत का सांस्कृतिक एवं राजनीतिक प्रभुत्व दूर दूर तक फैल चुका था। खुतन और चीन में तो बौद्ध संप्रदाय पहले ही से चला आता था। समुद्रगुप्त के समय में वह कोरिया में भी पहुँच गया और वहाँ की भाषा उसी समय से हमारी ब्राह्मी लिपि में लिखी जाने लगी। यशोधर्मा के समय से निपन (जापान) देश भी बौद्ध हो गया। भारतीय द्वीपों में हमारा राज्य बोर्नियो के पूरबी छोर तक जा पहुँचा, जिसमें अड़ोस पड़ोस के सभी द्वीप और मलक्का प्रायद्वीप भी समा गया। बरमा वाकाटक युग में ही भारतीय प्रभाव में आ चुका था।

इन क्षेत्रों में से चीन की अपनी बड़ी उत्कृष्ट चित्रकला बहुत पहले से थी। किन्तु उसकी परवा न करके भारतीय चित्रकला ने भी, बौद्ध संप्रदाय के पीछे पीछे, वहाँ पहुँच के अपनी जड़ जमाई। वहाँ से यह प्रभाव इस काल में कोरिया और जापान तक व्याप्त हुआ। इस समय अन्य क्षेत्रों में भी भारतीय चित्रकला पहुँच चुकी थी, जैसा कि उन क्षेत्रों में पूर्व मध्यकालीन अनेक उदाहरण मिलने से प्रतिपादित होता है (§ २२)।

तीसरा अध्याय

§ २०. पूर्व मध्यकाल (६००-६०० या १००० ई०) के भित्ति-चित्र।

क. अजंता—यों तो अजंता की पहली गुफा के कुछ चित्र, विशेषतः उसकी छत के अलंकरण (§ १५) ७वीं शती के हैं, किन्तु वे शैली में वहीं के ६ठीं शती के चित्रों से इतना मेल खाते हैं कि सुगमता से अलग नहीं किए जा सकते। अतएव उन्हें भी अपने पूर्ववर्ती चित्रों के साथ छोड़ देना चाहिए। २सरी गुफा में भी इस काल के चित्र हैं जिनमें ह्रास लक्षित होने लगता है, फिर भी ये इस काल के बिलकुल आरंभ की कृतियाँ हैं अतएव वह ह्रास नहीं के बराबर है। इस गुफा का एक प्रख्यात चित्र दया की याचना है। किसी राजा ने एक तरुणी के वध की आज्ञा दे दी है। वह अबला उस निर्दय के चरण में गिर कर दया की याचना कर रही है। इस अभागिनी का चित्र किसका हृदय विगलित न कर देता।

दूसरा मार्के का चित्र एक प्रेममग्न सुन्दरी का है। उसके प्रेमी का हाथ उसके कंठ में है जिसे वह बड़े आग्रह

से थामे हुए है। उसके नेत्र प्रेमासव से छके हुए हैं (फलक—६ क)।

ख. बाघ—इस काल के बाघ-गुफा के चित्र सन् १६०७-८ से पुनः संसार के सामने आए हैं। विंध्य पर्वत का यह अंश मालवे में ग्वालियर राज्य के अन्तर्गत है। पास ही नर्मदा की एक छोटी सी करद नदी, जिसका नाम वाघ वा बाघ है, बहती है। उसी के कारण वहाँ की गुफाओं का नाम और पास के गाँव का नाम भी बाघ पड़ा है। यहाँ कुल नौ गुफाएँ हैं जिनका सामना साढ़े सात सौ गज लंबा है। किन्तु ये नवों गुफाएँ आपस में मिली हुई नहीं हैं। इनमें से ४थी और ५वीं गुफाओं से मिला हुआ एक २२०' लंबा ओसारा है। कोई बीस भारी खंभों पर इसकी छत आधृत थी। ये खंभे प्रायः निःशेष हो चुके हैं। मुख्यतः इसी ओसारे में यहाँ के चित्र हैं। किन्तु खेद है कि उनकी ओर ध्यान आकृष्ट होने के पूर्व, छत गिर जाने के कारण तथा अन्य प्राकृतिक और मानुष उपद्रवों के कारण उनकी काफी क्षति हो चुकी है और बहुत थोड़े चित्र बच रहे हैं। अब ग्वालियर राज्य ने उनकी रक्षा का प्रबंध किया है और इंडिया सोसाइटी, लंदन के सहयोग से उनके विषय में एक सचित्र पुस्तक भी प्रकाशित की है। यहाँ के चित्रों की शैली अजंता से भिन्न नहीं है एवं वहाँ के पूर्व मध्य कालीन चित्रों की तुलना में ये उन्नीस नहीं

बैठते। इनमें मुँह ढँककर रोती हुई एक स्त्री का चित्र, जिसे उसकी सखी सान्त्वना दे रही है, बड़ा भाव-पूर्ण है। एक दृश्य नृत्य-समाज का है जिसमें नाचनेवाली मंडल बाँध कर छोटे छोटे डंडे लड़ा कर नाच रही हैं। इस आलेखन में यथेष्ट गति और रमणीयता है। यहाँ सवारी का भी एक चित्र है, जिसमें हाथियों का दल बड़ा भव्य है। यहाँ के अलंकरण अजंता जैसे नहीं हैं किंतु यहाँ की कमल की झुरमुटवाली बेल में वहाँ से अधिक प्रवाह है।

बाघ के तथा अजंता से अन्यत्र और सभी भित्ति-चित्र चूने की गच् (पलस्तर) पर बने हैं।

ग. **बादामी**—बंबई प्रांत में अइहोळ नामक स्थान के पास बादामी में चालुक्यों के बनवाए चार गुफा-मंदिर हैं। इनमें भी हाल में भित्ति-चित्र मिले हैं। इनकी दशा बाघ के चित्रों से कुछ अच्छी है। कला की दृष्टि से ये भी अपने काल के उत्तम चित्र हैं। यहाँ के कुछ चित्रों की प्रतिकृतियाँ तैयार की गई हैं, जिनमें से एक इस पुस्तक में दी जा रही है (फलक—६ ख); इस चित्र में कोई स्त्री किसी की याद में वा कोई आशा लगाए एक खंभे के सहारे खड़ी है। उसकी दृष्टि अवकाश में लगी है—वह अपनी स्मृति का चित्र आकाश में देख रही है। सुंदर कल्पना है। यहाँ के अन्य चित्रों में राजसमाज में नृत्य

का दृश्य; सिंहासनासीन राजा-रानी और उनकी परिचारिकाओं का आलेखन तथा एक झरोखे से देखती हुई तीन स्त्रियाँ और उनके संग के एक किशोर का चित्र, जो हाथ की मुद्रा से कोई विचित्र वार्त्ता व्यक्त कर रहा है, उल्लेखनीय है।

घ—**सित्तनवासल**—मदरास में तांजोर के पास पुदुदुकोटा राज्य में सित्तनवासल नामक स्थान है। वहाँ शक्तिशाली पल्लव राजा महेंद्रवर्मा प्रथम (लग० ६००–६२५ ई०) और उसके पुत्र नरसिंहवर्मा (लग० ६२५–६५० ई०) के कटवाए गुफा-मंदिर हैं। कोई अठारह बीस बरस पूर्व उनकी भीतों पर बड़े ही सुंदर चित्रों का पता लगा। इनकी भी शैली अजंता की है। इनमें नाचती हुई अंगनाओं के कई अंकन हैं जिनका भाव, भंगी, हस्त-मुद्रा, आकृति तथा अलंकरण बड़ा सुचारु, सजीव एवं प्रेक्षणीय है। एक छत में अत्यंत सघन कमल-वन बना हुआ है जिसमें मौके मौके पर मीन, मकर, कच्छप आदि जलजंतु तथा हाथी, महिष और हंस आदि जल के प्रेमी पशु-पक्षी दिखाए गए हैं। कहीं कहीं फूल तोड़ते हुए दिव्य पुरुष भी बने हैं। छत की यह सजावट अपने ढंग की निराली ही नहीं, बड़ी रमणीय भी है। एक स्थान पर एक पुरुष का चित्र है जिसके चेहरे से आभिजात्य और विशिष्टता टपकती है। उसके बाएँ कंधे के पीछे एक प्रसन्नवदन संभ्रांत महिला की आकृति है। इस जोड़ी के अंकन में कलाकार को

पूरी सफलता मिली है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि यह महेंद्रवर्मा और उसकी रानी का तुल्यकालीन चित्र है। सित्तनवासल के अन्य चित्र संभवतः जैन धर्म से संबंधित हैं।

ङ—वेरुल—जिसकी खराबी आजकल 'एलोरा' हो गई है, निजाम राज्य में, अजंता से कोई पचास मील के भीतर है। निजाम-रेलवे के औरंगाबाद स्टेशन से यह सोलह मील पर है। स्टेशन से पक्की सड़क बनी हुई है और मोटर मिलती है। यहाँ एक पूरी पहाड़ी काट कर संसार भर में अद्वितीय मंदिरों में परिणत कर दी गई है (देखिए–'मूर्तिकला', § ८८क)। इन मंदिरों में से मुख्यतः कैलासनाथ[१], लंकेश्वर, इंद्रसभा और गणेश लेण में खंडित भित्ति-चित्र पाए जाते हैं। यों तो सभी मंदिर बाहर-भीतर से चित्रित थे, किंतु उक्त मंदिरों से अन्यत्र केवल उनके चिह्न रह गए हैं। अधिकांश में ये चित्र पूर्व मध्यकाल के पिछले भाग, अर्थात् ८वीं शती के अंत के हैं। इन चित्रों के ऊपर चित्रों की एक दूसरी तह भी है जो इनसे सौ दो सौ बरस बाद की बनी हुई है। इनमें से कैलासनाथ मंदिर के चित्रों में कई जगह पहले की तह दिखाई देती

१—कैलासनाथ के जिस अंश में चित्र हैं उसे, सम्भवतः चित्रों के कारण, रंगमहल कहते हैं।

है। वह जिस गच (पलस्तर) पर बनी हुई है वह भीत के पत्थर से मिला हुआ है, अतएव निश्चयपूर्वक वह मंदिर के साथ की लिखाई है। यतः हम जानते हैं कि यह मंदिर ८वीं शती का है अतएव यह पहली चित्रकारी भी उसी समय की हुई। इस चित्रकारी में, अजंता की परंपरा होते हुए भी, वहाँ की शैली से विशेष अंतर पाया जाता है। अंतर इस बात में कि इसमें कला का ह्रास स्पष्ट रूप में दिखाई देता है। अलंकरणों में वह सौंदर्य नहीं है, अंग-प्रत्यंग में जकड़ है और **सवा-चश्म**[1] चेहरों में, जिनकी यहाँ अधिकता है, नाक का आलेखन अति-

---

[1]—भारतीय चित्रकला में मुख्यतः छः रुख के चेहरे बनाए जाते हैं। उनके नाम तात्पर्य सहित इस प्रकार हैं—१-**पौन-चश्म**—जिसमें चेहरे का आधे-से भी कम हिस्सा एवं एक आँख का जरा सा कोना दिखाई देता है; २—**एक-चश्म**—जिसमें चेहरे का एक रुख और एक आँख दीख पड़ती है; ३—**सवा-चश्म**—जिसमें चेहरे का समूचा एक रुख और उससे परले रुख का थोड़ा गाल तथा थोड़ी सी आँख दीख पड़ती है; ४—**डेढ़-चश्म**—जिसमें परले गाल और आँख का अंश और अधिक दिखाई देता है; ५—**पौने-दो चश्म**—जिसमें चेहरे का परला रुख और आँख **संमुख**-चेहरे से कुछ ही कम दीख पड़ती है और ६—**सम्मुख**—जिसमें नाक ठीक बीच में होती है और चेहरे के दोनों रुख तथा दोनों आँखें पूरी पूरी दिखाई देती हैं।

रिक्त लंबा हुआ है, यहाँ तक कि वह परले गाल के बाहर निकली हुई है एवं परली आँख भी चेहरे की सीमा के बाहर निकली हुई है। साथ ही आकाश की अभिव्यक्ति के लिये दिखाए गए बादल के खंडों में अजंता का सौंदर्य नहीं है। वे रुई के ढेर की तरह, गोले-गोले दिखाए गए हैं। प्रत्येक गोला खुलाई की एक-एक रेखा से अभिव्यक्त किया गया है। मध्यकाल में सवा-चश्म चेहरा तथा लंबी नाक बनाने की प्रवृत्ति चित्रों के सिवा मूर्तियों में भी पाई जाती है। किंतु नाक का परले गाल की सरहद से और परली आँख का चेहरे की सीमा से बाहर निकलना पहले पहल हम यहीं पाते हैं।

वेरूल की पाटनों में महाकमल का आलेखन है जिनकी कुनियों में कमल के जंगल और उसमें हाथी, मछली और फूल तोड़ती हुई अप्सराएँ इत्यादि बनी हैं। इसके चारों ओर चौड़ी पट्टियाँ हैं, जिनमें अनेक दृश्य अंकित हैं। इनमें जहाँ पहले के आलेखन निकल आए हैं उन स्थलों में गरुड़ पर आरूढ़ वैष्णवी का चित्र तथा सिंहवाहना एक देवी का चित्र, जिनका मुख कुछ पीछे को मुड़ा हुआ है और उनके इधर उधर बादल में उड़नेवाली देव-बालाओं की आकृतियाँ उल्लेखनीय हैं। बादवाली तह के चित्रों को देखने से जान पड़ता है कि कहीं पर तो उन्हें बनाकर पहली तह के चित्रों की मरम्मत की गई एवं जोड़ मिलाया गया है

और कहीं पहली तह को बिलकुल ढक कर नए चित्र लिखे गए हैं।

§ २१. **पूर्व मध्यकालीन वाङ्मय में चित्र**—यों तो पूना जिले के भाजा और बेदसा की गुफाओं में भी इस काल के भित्ति-चित्र हैं, किन्तु अभी उनके पर्याप्त विवरण प्राप्त नहीं, अतः वेरूल के वर्णन के साथ हम प्रायः उत्तर मध्यकाल की देहली पर पहुँच जाते हैं। अतएव उसमें प्रवेश करने के पहले, यह आवश्यक है कि प्रस्तुत काल के क–चित्र संबंधी वाङ्मय तथा ख–अन्य वाङ्मय में आनेवाले चित्र-विषयक, कुछ मुख्य उल्लेखों की चर्चा कर दी जाय।

क—**विष्णुधर्मोत्तर पुराण का चित्र-सूत्र**—यद्यपि विष्णुधर्मोत्तर पुराण की गिनती अठारह पुराणों वा उपपुराणों में नहीं है तथापि वह विष्णु पुराण का, एक प्रकार का खिल है और उसके संकलन का समय मध्यकाल से पीछे का नहीं ठहरता। इसी के एक अंश का नाम **चित्र-सूत्र** है जो प्रस्तुत काल की रचना जान पड़ता है[१]। इसमें चित्रों के शारीरक, लक्षण, रंग, अंकन-

---

१—इस 'सूत्र' में रंगों के लिये संस्कृत 'राग' नहीं, आज तक बोलचाल में चलनेवाले 'रंग' शब्द का प्रयोग है, जिसका अर्थ संस्कृत में अभिनय वा युद्ध भूमि होता है। अतः जान पड़ता है

विधान तथा तात्त्विक सिद्धांतों का कई अध्यायों में बड़ा विशद विवेचन है। इसके बाद के कई ग्रंथों में—जैसे अभिलषितार्थ-चिंतामणि, मानसार, शिल्परत्न और समरांगण-सूत्रधार आदि में—चित्र-शास्त्र पर अध्याय मिलते हैं उन सबका आधार मुख्यत: यही चित्र-सूत्र है। अतएव यहाँ इसकी कतिपय विशेष बातों का सारांश देना अनुचित न होगा—

१—बिना नृत्त[1] के हाव-भाव एवं अंग-भंगी की समझ हुए चित्रों का समुचित अंकन एवं प्रेक्षण असंभव है। कितनी बारीक बात है। नट (=अभिनेता, पात्र) अपने नृत्त में जो अभिव्यक्ति उक्त आंगिक विकारों द्वारा करता है उसी को प्रेक्ष्य-कलाओं का निर्माता अपनी कृति में स्थायित्व प्रदान करता है। अतएव ऐसा निर्माता जब तक नृत्त के तत्त्वों में निष्णात न होगा तब

कि इसमें गुंफित सिद्धांत उस समय की बोलचाल की भाषा से संस्कृत में निबद्ध किए गए हैं। अर्थात् उस समय के कारीगरों में इन सिद्धांतों का प्रचार था।

१—नृत्य और नृत्त में बड़ा अंतर है। नृत्य नाचने को कहते हैं और नृत्त सुसंस्कृत अभिनय को—

परस्यानुकृतिर्नाट्यं नाट्यज्ञैः कथितं नृप।
तस्य संस्कारकं नृत्तं भवेच्छोभाविवर्धनम्॥

—विष्णुधर्मोत्तर० ३।२०।१.

तक अपनी सृष्टि में कैसे सफल होगा। इसी प्रकार जब तक उसके प्रेक्षक को वे तत्त्व अवज्ञात न होंगे तब तक वह चित्रादि को कैसे समझ सकेगा। न तो वह उनके भाव तक पहुँचेगा, न आंगिक विकारों की स्वाभाविकता को निरख सकेगा, और 'यह हाथ ऐसा क्यों, वह पाँव वैसा क्यों' की नुक्ताचीनी किया करेगा।

२—सत्य और काल्पनिक दोनों प्रकार के चित्र बनते थे; सत्य चित्र के लिये आवश्यक था कि वह बिंब का तद्वत् प्रतिबिंब हो, यही उसकी विशेषता थी। काल्पनिक चित्र की सामग्री के लिये 'सूत्र' में अनेक बातें बताई गई हैं। इनमें से एक तो यह है कि किन किनके शरीर का कितना प्रमाण होना चाहिए—देवता, देवयोनि तथा मनुष्य के और उनमें भी पद तथा जाति के अनुसार शरीर के प्रमाण भिन्न भिन्न हैं। उन्हीं प्रमाणों के अनुरूप उनकी योषाओं के प्रमाण भी अलग अलग हैं।

३—देवताओं, नागों, किन्नरों और यक्षों का रूप सौम्य तथा राक्षसों का भीषण होना चाहिए, उनके केश उठे हुए एवं आँखें तनी हुई होनी चाहिएँ। वियोगिनी का वस्त्र श्वेत होना चाहिए, चिंता के कारण उसके केश पक चले हों, तन पर आभूषण न हों। सेनापति को खूब लंबे चौड़े शरीर का, भारी भुजा, कंधे और ग्रीवा वाला तथा चढ़ी भृकुटी वाला बनाना चाहिए। उसकी आकृति दृप्त और ऊर्जित होनी चाहिए। सैनिक

फौजी पोशाक में और शस्त्रास्त्र से सजे हुए होने चाहिएँ। गायक-नर्त्तकों का वेश उद्धत होना चाहिए। नगर और देहात के लोगों को भले वस्त्र पहने हुए और स्वभाव से प्रियदर्शी उरेहना चाहिए। कारीगरों को अपने काम में लगे हुए दिखाना चाहिए। पहलवानों को विशाल-काय, भरे कल्लेवाले और बदन पर मट्टी लगाए दिखाना चाहिए। देश-देश के लोगों को ऐसा बनाना चाहिए कि वे उस उस देश के मालूम हों, क्योंकि चित्र में सादृश्य-करण ही प्रधान है। नदी-देवताओं को हाथ में पूर्ण कुंभ लिए हुए, वाहनों पर दिखाना चाहिए। समुद्र को हाथ में रत्न का पात्र लिए हुए बनाना चाहिए। उसके ज्योतिमंडल के स्थान पर पानी अंकित करना चाहिए; यह कल्पना बड़ी उत्कृष्ट है।

४— आकाश में दिन का दृश्य उसके हलके रंग, चिड़ियों के उड़ने तथा सूर्य की प्रभा से व्यक्त करना चाहिए। रात का दृश्य तारकों के द्वारा दिखाना चाहिए। चाँदनी रात हो तो फूले हुए कुमुद भी बनाए जायँ। पर्वतों में शिलाजाल, पेड़, धातुओं की खान, झरने और साँप लिखना चाहिए। वन में अनेक प्रकार के वृक्ष, पक्षी तथा दरिंद जानवर दिखाने चाहिएँ। नगर को देव-मंदिर, राज-प्रासाद, हाट और शोभन राजमार्ग से युक्त बनाना चाहिए।

इसी प्रकार ऋतु-चित्रों के लिये भी सूक्ष्म ब्योरे दिए हैं। वसंत के चित्र में फूले हुए वृक्ष, मधुपों की

भीड़, कूकती कोयलें और प्रहृष्ट नर-नारी होने चाहिएँ। ग्रीष्म के चित्र में क्लांत मनुष्य, छाया में छिपे हुए खग-मृग, कीचड़ में सने महिष तथा सूखे जलाशय होने चाहिएँ। वर्षा-चित्र में तोय से नम्र घन, इंद्रधनुष, बिजली का कौंधा और वृष्टि होनी चाहिए। शरत्-चित्र का अंकन स्वच्छ आकाश, पके हुए धान के खेत, हंस और पद्म से पूरित भरे हुए जलाशय आदि से होना चाहिए। हेमत के चित्र में फसल कट जाने से परपट जमीन तथा दिगंत में कुहरा आदि होना चाहिए। शिशिर के चित्र में कौओं और हाथियों में हर्ष किंतु मनुष्यों में शीत का त्रास एवं दिगंत को और भी अधिक कुहराच्छन्न होना चाहिए। ऋतु-चित्रों में अन्य विशेषताएँ प्रकृति का निरीक्षण करके अंकित करनी चाहिएँ।

५—नवरस के चित्रों में ये विशेषताएँ होनी चाहिएँ—

१—शृंगार रस के चित्र में कांति, लावण्य, माधुर्य, सुंदर वेशाभरण। २—हास्य-रस के चित्र में बौने, कुबड़े, टेढ़े-मेढ़े अंग और अद्भुत रूपवाले; व्यर्थ की चेष्टा और विचित्र हाव-भाव करते हुए। ३—करुण चित्र में याचना, वियोग एवं विरह, अपनी प्रिय वस्तु वा प्राणी का त्याग वा विक्रय, विपत्ति और सहानुभूति। ४—रौद्र चित्रों में कठोरता तथा क्रोध। ५—वीर रस के चित्रों में प्रतिज्ञा, शौर्य, औदार्य तथा उत्साह। ६—भयानक-चित्र में दुष्ट, दुर्दर्शन एवं उन्मत्त व्यक्तियों तथा हिंस्र

जीवों का अंकन। ७—वीभत्स चित्र में श्मशान तथा गर्हित एवं वध-भूमि आदि। ८—अद्भुत-रस के चित्र में अनेक भावों का विचित्र समवाय और ६—शांत रस के चित्र में सौम्य आकृति, ध्यानस्थ आसन बाँधे हुए साधक तथा तपस्वी।

घर में शृंगार, हास्य तथा शांत रस के चित्र ही अंकित होने चाहिएँ। अन्य चित्र या तो देव-मंदिर में बनाए जायँ या राजसभा में। राजसभा को छोड़कर राजा के निजी घरों में भी ऐसे चित्र नहीं बनाने चाहिएँ।

६—चित्रण के लिये **जमीन** तैयार करने के तथा रंगों के उपादान एवं उनके बनाने के ब्योरे भी दिए गए हैं। मूल-रंग पाँच माने गए हैं—नीला, पीला, लाल एवं सफेद तथा काला।

यह उल्लेख भी है कि चित्रकार को अपने घर में चित्रण नहीं करना चाहिए। इस विधान का भावार्थ विद्वानों ने कई प्रकार किया है किंतु मुझे तो सीधा अर्थ यह जान पड़ता है, जैसा कि आज भी घरानेदार चित्रकारों की परंपरा है, कि घर में काम करने से कारीगर उन्नति नहीं कर पाता। जब तक बाहर निकल कर चार कारीगरों का मुकाबला नहीं करता तब तक उसकी विद्या जहाँ की तहाँ रह जाती है; बल्कि बिगड़ने लगती है।

७—**कलम** की कमजोरी, मोटी रेखाएँ, असम विभाग, बेमेल रंगों का प्रयोग, रस का अभाव, भाव-रहित दृष्टि तथा गंदापन एवं चेतना का अभाव, ये चित्रों के दोष हैं। उचित प्रमाण, उचित विभाग, माधुर्य और सादृश्य एवं सजीवता, ये चित्रों के गुण हैं। जिस चित्र में ऐसा जान पड़े कि चित्रस्थ मूर्ति में प्राण स्पंदित हो रहे हैं वही चित्र शुभ-लक्षण-संपन्न है। जो चित्रकार सोए व्यक्ति में सोई हुई चेतना और मृत में उसका अभाव दिखाने में समर्थ होता है तथा जिसके बनाए सादृश्य निशाने की तरह ठीक बैठते हैं (शल्यविद्ध) वही चित्र-विद्या का जानकार है।

चित्रों के सौंदर्य का रहस्य समझनेवाले उसकी रेखाओं से उसकी उत्तमता-अनुत्तमता का निर्णय करते हैं। जो उनसे कम समझदार हैं वे **परदाज** देखकर फैसला करते हैं। स्त्रियाँ चित्र के आलंकारिक अंश की गुन-गाहक हैं और इतर जन रंगों की तड़क-भड़क पर जाते हैं।

जहाँ चित्र बने होते हैं वह घर सूना नहीं लगता। सब कलाओं में चित्रकला श्रेष्ठ है; यह मांगल्य और धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष को देनेवाली है।

अजंता आदि के चित्रों से प्रत्यक्ष है कि चित्र-सूत्र कोरा शास्त्र न था बल्कि उसके सिद्धांत एवं विधान पूर्ण रूप से बर्ते जाते थे।

ख—**उत्तररामचरित**—भवभूति की यह अमर रचना इसी काल की है। इसका प्रसंग चित्रों से ही प्रारंभ होता है। भगवान् रामचंद्र के पास अष्टावक्र ऋषि आए हैं। वे बातें कर ही चुके हैं कि लक्ष्मण आ जाते हैं और भगवान् से कहते हैं कि "उस चित्रकार ने हमारे बतलाने के अनुसार आपके चरित इस भीत के ऊपरी भाग में उरेहे हैं, उन्हें आर्य देखें"। इसपर सीतादेवी और महाराज उन चित्रों को देखने लगते हैं। उनमें सीता की अग्नि-परीक्षा तक की पूरी रामायणी कथा अंकित है। पहले उन दिव्यास्त्रों के मूर्तिमान् चित्र हैं जो रामचंद्र को ताटका-वध के लिये विश्वामित्र से प्राप्त हुए थे। भगवान् उन्हें देखकर सीतादेवी से प्रणाम कराते हैं कि वे दिव्यास्त्र उनके गर्भस्थ संतति को अनायास प्राप्त हो जायँ। फिर मिथिला के वृत्तांत हैं। उन्हें देखकर मैथिली कहती हैं—"अहो, यहाँ खिलते हुए नव-नील-कमल-से साँवले, स्निग्ध, मसृण, मांसल सुभग देहवाले आर्यपुत्र को बनाया है। उन्होंने शंकर के शरासन को कुछ न गिनकर तोड़ डाला है और विस्मय-चकित मेरे पिता (जनक) एकटक उनके भोले मुँह को, जिस पर काकपक्ष शोभित हैं, देख रहे हैं"।

लक्ष्मण उन्हें दिखाते हैं—"यह देखिए, आपके पिता तथा पुरोहित शतानंद, वसिष्ठ आदि समधियों की अर्चा कर रहे हैं"।

राम कहते हैं—"यह देखने ही योग्य है; विदेहों और रघुओं का संबंध किसे न रुचेगा, जहाँ दोनों ओर विश्वामित्र ही समधी हैं"।

सीतादेवी वैवाहिक दृश्य को देखकर कहने लगती हैं—"यह, आप चारों भाई गोदान-मंगल करके विवाह-दीक्षित हुए हैं। अहो, ऐसा लगता है कि मैं उसी स्थान और उसी समय में हूँ"।

राम को भी वैसा ही भान होता है और वे सीता का ध्यान पाणिग्रहण के दृश्य की ओर आकर्षित करते हैं।

लक्ष्मण, और ब्योरे में पैठकर भरत की वधू मांडवी और शत्रुघ्न की वधू श्रुतकीर्त्ति के चित्र दिखाते हैं। इसी के बाद इस प्रसंग का सर्वोत्तम अंश आता है। उर्मिला (लक्ष्मण-पत्नी) के चित्र को इंगित करके सीता लक्ष्मण से पूछती हैं—"वत्स, और यह कौन है"? लक्ष्मण लजा जाते हैं और मन ही मन मुसकरा कर प्रसंग बदलने के लिये परशुराम-कांड के चित्र दिखाने लगते हैं।

क्रमशः वे लोग राम के किष्किधा पहुँच जाने तक के चित्रों को देखते हैं और उनके हृदय में प्रसंगानुकूल भाँति भाँति के भावों की क्रिया एवं प्रतिक्रिया होती है।

यह सुंदर और लंबा प्रसंग उस समय के जीवन से चित्रों के घनिष्ठ संबंध का विशद परिचायक है। ये चित्र ऐतिहासिक नहीं, जीवन की घटनाओं के संरक्षण के लिये बनाए गए थे (§ ६),

सो तो उस घरेलू आंतरिक बातचीत से स्पष्ट है जिसका कुछ अंश ऊपर अवतरित है।

फुटकर उल्लेख—हर्षचरित से ज्ञात होता है कि राजा की भेंट में अन्य वस्तुओं के साथ चित्रण की सामग्री भी होती थी।

इन दिनों चित्रविद्या राजकुमारों की शिक्षा का एक अंग थी। दशकुमारचरित में उल्लेख है कि कुमार उपहारवर्मा ने स्वयं अपना चित्र बनाया था। संभावना होता है कि यह प्रथा पुरानी थी, क्योंकि कथासरित्सागर के अनुसार उदयन का कुमार नरवाहनदत्त चित्रकला, मूर्तिकला और संगीत में निष्णात था।

महावंश लिखता है कि महाराज ज्येष्ठतिष्य स्वयं चित्रकार थे और अपनी प्रजा के इस विद्या में शिक्षित करते थे।

नायक-नायिका में प्रेम उत्पन्न होने के जो तीन मुख्य हेतु हैं उनमें प्रत्यक्ष-दर्शन और स्वप्न-दर्शन के साथ साथ चित्र-दर्शन भी है। प्राचीन साहित्य में इसके अनेकानेक उदाहरण पाए जाते हैं जो मुख्यतः इसी काल से चलते हैं।

शयनागार तथा सूतिकागृह तक के चित्रण के कई उल्लेख मिलते हैं।

§ २२. वृहत्तर भारत के पूर्व मध्य कालीन चित्र—

अपर-भारत—तिब्बत से उत्तर और चोन से पश्चिम जो बड़ा भू-भाग पामीर तक फैला है उसमें प्राचीन काल से तुखार

और ऋषिक नामक वन्य एवं अनिकेत आर्य जातियाँ रहती थीं। अशोक के समय में वहाँ भारतीय बस्ती की नींव पड़ी और यहाँ के प्रवासी वहाँ का अंधकार दूर करने में प्रवृत्त हुए। २सरी शती ई० पू० से चीनियों ने भी इस काम में हाथ बटाया। खुतन की, जो उक्त भूभाग का एक मुख्य स्थान है, एक पुरानी ख्यात है कि वहाँ विजय-सभव नामक एक राजा हुआ जिसके समय में आर्य-वैरोचन ने पहले पहल तुखार-ऋषिकों को भारतीय लिपि सिखाई जिसके कारण उनकी भाषाओं के सब ग्रंथ ब्राह्मी-जनित लिपि में लिखे गए। वैरोचन का शिक्षा-प्रचार लग० १०० ई० पू० में हुआ। इसके बाद से वहाँ भारतीय और उनकी संस्कृति इस प्रकार जम गई कि आजकल के ऐतिहासिकों ने इस भूभाग का नाम, प्राचीन इतिहास में, अपर-भारत (सरइं-डिया) रखा है। इस भारतीय संपर्क के कारण ईसवी सन् के आरंभ से पहले ही तुखार-ऋषिक बहुत कुछ सभ्य हो गए थे तथा उनके द्वारा चीन और भारत का संबंध भी स्थापित हो गया था।

१८६६ ई० से सर ऑरेल स्टीन, अध्यापक ग्रनवेडेल तथा डा० लेकॉक आदि विद्वानों ने अपर-भारत में खोज आरंभ की और वहाँ के अनेक स्थानों से, मुख्यतः तकलामकान मरुभूमि में बालू के नीचे से प्राचीन सभ्यता की अनेक वस्तुएँ और अवशेष निकाले। इनमें कितने ही सुंदर भित्ति-चित्र, लकड़ी पर बने चित्र-फलक

तथा सूती एवं रेशमी कपड़े पर बने चित्र-पट भी हैं, जिनमें भारतीय शैली की प्रमुखता के साथ साथ चीनी तथा ईरानी कला का पुट भी पाया जाता है। इनमें से कुछ मुख्य चित्रों का परिचय यहाँ दिया जाता है।

मीरान में दो भग्न मंदिर मिले हैं जिनमें भित्ति-चित्र भी हैं। इनमें से एक में बेस्संतर-जातक का चित्रण है जिसका **संयोजन** इस जातक की भरहुत वाली प्रस्तर-मूर्ति के अनुसार है, जिसकी प्रतिकृति कुषाण काल के गांधार शिल्पियों ने भी अपनी प्रस्तर-कला में की है। मीरान का उक्त चित्रण ई० ४थी शती का है किंतु अपर-भारत के अधिकांश चित्र ७वीं-८वीं शती के ही हैं। इनमें दंदा-नउइलिक के चित्र मुख्य हैं। वहाँ के एक चित्र-फलक पर एक ओर त्रिमुख का आलेखन है जो दो बैलों पर बैठे हैं (फलक–७ख)। इसमें सारी मूर्ति और उसके अंग-प्रत्यंग भारतीय हैं, केवल बीच के और दहिने मुख पर चीनी प्रभाव है। बाएँ **सवाचश्म** मुख की नाक और आँख में अपने यहाँ की मध्यकालीन वह विशेषता विद्यमान है जिसकी चर्चा ऊपर, § २०ङ में हो चुकी है और विशेष रूप से अगले प्रकरण में की जायगी। यतः यह क्षेत्र बौद्ध है अतः यह चित्र लोकेश्वर का हो सकता है। इसी क्षेत्र से यह ध्यान चीन और जापान भी पहुँचा, जहाँ अब तक चल रहा है। इस चित्र-फलक की दूसरी ओर एक दाढ़ीवाले चतुर्भुज व्यक्ति,

संभवतः बोधिसत्त्व का बैठा हुआ चित्र है जिसका पहिनावा, चपका हुआ अँगरखा और नोकदार बूट, ईरानी है। अन्यथा उसकी हस्तमुद्रा, कान के कुंडल आदि पूर्णतः भारतीय हैं।

दंदानउइलिक़ का सबसे प्रसिद्ध आलेखन एक भित्ति-चित्र है जिसमें एक छोटे से पद्मतड़ाग में खड़ी हुई एक स्त्री है, जिसके कान, कंठ, भुजा तथा हाथ में भारतीय आभूषण हैं एवं उसी प्रकार कमर में क्षुद्रघंटिका की चार लड़ें हैं। इसकी ठवन, हस्तमुद्रा और अँगुलियों का लचाव भी सर्वथा यहीं का है। साथ में एक छोटा सा बालक है। दोनों मुखाकृतियों पर चीनी प्रभाव है। पृष्ठिका में ध्यानी बुद्ध का चित्र है तथा बगल में दो बौद्ध स्थविर बने हैं। इनमें भी केवल मुख पर चीनी प्रभाव है। यह चेहरों का चीनी-पन वहाँ के मनुष्य-मुखों की अनुकृति के कारण है।

कूचा क्षेत्र में अनेक गुफाओं में चित्र हैं जिनमें पर्याप्त भारतीयता है, उदाहरणार्थ वहाँ ब्रह्मा, इंद्र और पार्वती तथा नंदी सहित शिव के चित्र मिलते हैं। एक स्थान पर बादल से विंदु-ग्रहण करते हुए चातकों का चित्र है। इन बादलों में सर्पाकृति बिजली बनी है। इस प्रकार का अंकन राजस्थानी चित्रों में बहुत इधर तक पाया जाता है।

भारतीय पुरातत्व विभाग ने अपर-भारत में संगृहीत चित्रादि का एक विशाल संग्रहालय दिल्ली में बना दिया है जिससे वहाँ की कला और प्रत्न के अध्ययन में बड़ी सुविधा हो गई है।

चीन, कोरिया तथा जापान—चीन में भारतीय चित्रकला अपर-भारत द्वारा ही गई, और वहाँ से कोरिया होती हुई जापान पहुँची। चीनी सम्राट् यांग-टी (६०५–६१७ ई०) के दरबार में खुतन का एक चित्राचार्य था। वहाँ के लेखकों के अनुसार उसका और उसके पुत्र का, भारतीय शैली के बौद्ध चित्र बनाने में बड़ा ऊँचा स्थान था। कोरिया में, वहाँ से जापान में, मुख्यतया इसी चित्राचार्य के पुत्र ने भारतीय चित्रण का प्रचार किया। पुरानी जापानी कला में सुस्पष्ट भारतीय प्रभाव का यही कारण है। इस प्रकार के पूर्व-मध्यकालीन (लग० ८वीं शती) अनेक उदाहरण वहाँ के होरिउजी और नारा वाले बौद्ध विहारों के भित्ति-चित्रों में विद्यमान हैं (फलक—७ क)।

जिस प्रकार अपर-भारत से भारतीय चित्रकला चीन-कोरिया-जापान तक पहुँची उसी प्रकार वहीं (अपर-भारत) से उसका प्रभाव ईरान, लघु एशिया, अरब एवं मिस्र तक व्याप्त हुआ।

चौथा अध्याय

§ २३. **उत्तर-मध्यकाल (१०वीं-११वीं शती ई० से १५वीं शती ई० के उत्तरार्ध तक)**—यों तो मध्यकाल के साथ ही—जिसका आरंभ राजनीतिक इतिहास के अनुसार यशोधर्मा के बाद, अर्थात् ५४० ई० से और सांस्कृतिक दृष्टि से उसके कुछ बाद अर्थात् ६ठीं शती के आरंभ वा पूर्वार्ध से होता है—विंध्योत्तर भारत का ह्रासयुग आरंभ हो जाता है, हमारा मस्तिष्क मानो अपने को पूर्णता तक पहुँचा मान कर आगे बढ़ना छोड़ देता है, जीवन के सभी व्यापारों में—संस्कृति के सभी अंगों में—हमारी ऊर्जस्विता एवं ओजस्विता का अभाव हो जाता है और राष्ट्र अपने कर्तव्य की उपेक्षा करने लगता है, परंतु १०वीं-११वीं शती से तो यह ह्रास सर्वतोमुख सड़ाव और अधःपतन को पहुँच जाता है। तभी से कोई चार-छः सौ वर्ष का, उत्तरोत्तर दुरवस्थावाला समय उत्तर-मध्यकाल है। राजनीतिक कलना के अनुसार इस काल के माप में कुछ—कुछ ही—अंतर पड़ता है। यहाँ, चित्र-कला की दृष्टि से, इसकी व्याप्ति का समय दिया गया है।

§ २४. **उत्तर-मध्यकालीन चित्र-शास्त्र तथा अन्य ग्रंथों में चित्र-चर्चा**—उक्त दुरवस्था की ओर चित्रकला भी ढुलक चली थी, इसका आभास हम ऊपर पा चुके हैं (§ २० ङ)। इस काल में पहुँचकर, संस्कृति के अन्य सभी अंगों की भाँति वह भी, देश के अधिकतर भागों में, अधःपतित हो चुकी थी। इस संबंध में आगे विशेष विवेचन की आवश्यकता पड़ेगी; एकाध प्रश्न के निर्णय के लिये, जिनके विषय में हम अन्य विद्वानों से भिन्न निष्कर्ष पर पहुँचे हैं, अधिक ब्योरे में पैठना पड़ेगा (§ २५ ख), अतएव अन्य कालों की भाँति यहाँ, पहले इस काल के चित्रों का वर्णन न करके हम चित्र-विषयक वाङ्मय और अन्य वाङ्मय में उसके उल्लेख के विवरण देने में प्रवृत्त होंगे—

क—अभिलषितार्थचिंतामणि—११२६ ई० में चालुक्य-वंशीय सोमेश्वर भूपति ने उक्त वा 'मानसोल्लास' नाम का एक विश्वकोषात्मक ग्रंथ लिखा जिसे मैसूर विश्वविद्यालय ने प्रकाशित किया है। इस ग्रंथ के तीसरे अध्याय में वास्तु-विद्या के अंतर्गत चित्रकला पर भी एक लंबा प्रकरण है जिसकी कतिपय मुख्य बातें इस प्रकार हैं—

> सोमेश्वर अपने को चित्र-विद्या-विरंचि कहता है। उसके मतानुसार चित्र चार प्रकार के होते हैं—१-विद्ध-चित्र, जिसमें दर्पण के प्रतिबिंब की भाँति सादृश्य हो

(मिलाइए चित्रसूत्र का शल्यविद्ध, पृ०५१)। २—अविद्ध चित्र, जिसे चित्रकार तरंग उठने पर बनावे अर्थात् काल्पनिक या भावोपपन्न। ३—रस-चित्र, अर्थात् रसों की अभिव्यक्ति करनेवाले चित्र जिनके देखते ही दर्शक का उन रसों से तादात्म्य हो जाय। हमने देखा है कि रस-चित्रों की चर्चा चित्र-सूत्र में भी हुई है (पृ० ४६)। ४—धूलि-चित्र जिसका उल्लेख हम आरंभ में ही कर आए हैं (§ ५)।

भित्ति-चित्र बनाने के लिये भीत का पलस्तर कैसा होना चाहिए और उसे कैसे बनाना चाहिए, उस पर लिखाई करने के लिये **जमीन** कैसे तैयार करनी चाहिए, इसका ब्योरेवार वर्णन है। **जमीन** एवं रंगों में पकड़ के लिये सरेस दिया जाता था जिसे वज्रलेप कहते थे। यह भैंसे की ताजी खाल से बनता था। इसके बनाने की विधि भी दी है।

पलस्तर पर जमीन तैयार करके (अर्थात् **अस्तर-बट्टी** करके) भावुक एवं सूक्ष्म रेखा-विशारद चित्रकार चिंतन द्वारा अर्थात् अंतर्दृष्टि से देखकर, उस पर अनेक भाव और रस वाले चित्र अच्छी रेखाओं और समुचित रंगों से बनाता था। आलेखन के लिये वह **कलम** के सिवा पेंसिल की-सी किसी चीज का भी प्रयोग करता था जिसका नाम वर्तिका दिया है। पहले इसी से आकार टीपता था, फिर गेरू से उसकी **सच्ची टिपाई** करता था, तब समुचित

रंग भरता था; ऊँचाई दिखाने के लिये उजाला (लाइट) और निचाई के लिये छाया (शेड) देता था। तैयार चित्र के हाशिए की पट्टी काले रंग से करता था और वस्त्र, आभरण, चेहरई आदि की खुलाई महावर (=आलता, अलक्तक) से करता था। भित्ति-चित्र के ही विधान से अन्य चित्र भी बनते थे। इसके उपरांत शुद्ध और मिश्रित रंगों का वर्णन है।

चित्रों में सोने के उपयोग का विधान पहले पहल इसी ग्रंथ में पाया जाता है। चित्रों के लिये सोने के तबक से हलकारी सोना बनाने की जो प्रक्रिया इसमें दी है वह आजकल की प्रक्रिया से अधिक भिन्न नहीं। जिस प्रकार आधुनिक चित्रकार चित्र पर सोना लगाकर उसे मोहरे से इसलिये घोटते हैं कि वह चमक उठे उसी प्रकार उस समय शूकर के दाँत से यह काम लिया जाता था।

इसके उपरांत भिन्न भिन्न रसों और अंगों के प्रमाणों एवं शारीरक का बड़ा लंबा वर्णन है।

ख—इस काल के अन्य वाङ्मय में के कुछ मुख्य उल्लेख इस प्रकार हैं—

१—मागधी प्राकृत की जैन कहानी **सुरसुंदरीकहा** में (रचना-काल १०३८ ई०) चित्रों के उपयोग के कई प्रसंग मिलते हैं—इसके तीसरे अंश में एक श्लेष-चित्र की बहुत ही सुंदर

कल्पना है। कोई नायक एक ही नायिका पर रीझा है, अन्य की ओर उसका ध्यान नहीं है। इस बात को एक अवमानिता एक भ्रमर और कुमुदिनी-राजि का चित्र बनाकर व्यक्त करती है कि मधुप एक का रस लेने में अन्य सबों को भूल गया है। इस चित्र के नीचे चित्रकरी ने एक उपयुक्त पद्य भी लिख दिया था।

इससे यह भी जान पड़ता है कि मुगल, राजस्थानी और पहाड़ी चित्रों की प्रवृत्ति के प्रतिकूल उस समय ऐसे चित्र भी अंकित होते थे जिनमें मानव आकृति का होना आवश्यक न था। इस काल की एक चित्रित जैन पोथी में सूर्योदय का दृश्य है। उसमें भी मानव आकृति नहीं है। इसी प्रकार एक उल्लेख मिलता है कि किसी राजप्रासाद में, फर्श पर मोरपंख का एक ऐसा चित्र बना दिया गया था कि राजा उसे वास्तविक समझकर उठाने लगा और उसके नख में चोट आ गई।

२—प्राकृत की ही एक अन्य जैन कहानी **तरंगवती** में तो एक ऐसा प्रसंग आता है कि उस समय चित्र की प्रदर्शिनियों का होना संभवित होता है–तरंगवती का नायक कहीं चला गया है अतः वह अपने घर में चित्रों का एक प्रदर्शन करती है कि शायद उसके द्वारा उसका पता चल जाय। यह ग्रंथ हमारे वर्णनीय समय के कुछ पहले पादलिप्ताचार्य्य ने लिखा था किंतु इसकी पुनरावृत्ति और संक्षेपण इसी काल में हुआ था।

३—विल्हणकृत **कर्णसुंदरी** (रचना-काल १०६४ ई०—१०६४ ई०) में नायक का अनुराग नायिका का चित्र देखकर उत्पन्न होता है।

४—हेमचंद्राचार्य के **त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र** से पता चलता है कि राज-भवनों में एक चित्र-सभा रहती थी जिसमें भित्ति-चित्र बने होते थे और यह काम अनेक चित्रकारों में (जिनकी इस समय तक भी श्रेणियाँ अर्थात् पंचायती संस्थाएँ होती थीं) बाँट दिया जाता था।

५—बृहत्कथा के दोनों सारांश सोमदेव-कृत **कथासरित्सागर** तथा क्षेमेंद्रकृत **बृहत्कथामंजरी,** इसी काल में निर्मित हुए। इनमें चित्रों के जो वर्णन भरे पड़े हैं उन्हें बृहत्कथा के समय का ही निदर्शक न मानना चाहिए बल्कि इन संक्षेपकों के समय तक की बात भी समझनी चाहिए, क्योंकि कहानियों के ग्रंथों में बराबर परिवर्तन होते रहते हैं।

इन कथा-ग्रंथों के प्रमाणों से सिद्ध होता है कि जनता की उस समय चित्र-कला में रुचि थी और संस्कृति में उसे प्रमुख स्थान प्राप्त था; केवल पेशेकार चित्रकार और चित्रकारिणी ही नहीं होती थीं बल्कि राजा से लेकर प्रजा तक सभी श्रेणी के स्त्री और पुरुषों में इसका अभ्यास और प्रयोग प्रचलित था। प्रणय और परिणय में इनका विशेष उपयोग होता था। समाज में चित्रकारों का आदर था

और चित्र, साहित्य में वर्णनीय वस्तुओं में था। **कथासरित्सागर** में एक जगह शबीहों (व्यक्ति चित्र) के चित्राधार (अलबम) का जिक्र आया है। मुगलों के जमाने में ऐसे चित्राधारों का बड़ा रिवाज था। किंतु यह निर्विवाद है कि वे इस प्रथा को अपने संग न ले आए थे। अतएव संभवतः यह उनकी उपज न थी बल्कि, इसी भारतीय रीति का अनुकरण था; जिस तरह उन्होंने यहाँ की और सैकड़ों बातें अपना ली थीं।

कथासरित्सागर की एक कहानी में यह प्रसंग आता है कि एक चिकने खंभे पर चित्रकार ने चित्र बना दिया जिसे मूर्तिकार ने तराश कर मूर्ति में परिवर्तित कर दिया। संभवतः ऐसी प्रथा उस समय थी। आज दिन भी मूर्तिकार को चित्रकार, मूर्तियों के लिये नकशा (स्केच) देता है।

कथासरित्सागर में कई ठिकाने चित्र-पट को भीत पर टाँगने की चर्चा भी है। जान पड़ता है कि इस काल में भित्ति-चित्रों के बदले अधिकतर यही रिवाज था। नेपाल-तिब्बत में चित्र-पट के लटकाने की प्रथा आज भी पाई जाती है। उक्त स्थानों की चित्रकला मुख्यतः इसी काल की परंपरा में है, अतएव यह प्रथा उक्त अनुमान की पोषक है।

§ २५. **इस काल के चित्र**—भित्ति-चित्रों का जमाना संभवतः पूर्व मध्यकाल के साथ बीत चुका था। वेरूल में भोज के

भतीजे उदयादित्य (१०५६–१०८० ई०) के बनवाए भित्ति-चित्र हैं किंतु इनके सिवा इस काल के भित्ति-चित्र का कोई विशिष्ट उदाहरण अभी तक नहीं मिला। यों तो अपने यहाँ भित्ति-चित्र-कला की परंपरा आज तक चली आई है[1], बल्कि यों कहना चाहिए कि अपने यहाँ के छोटे चित्रों का विधान भी सर्वथा भित्ति-चित्रों पर अवलंबित है अर्थात् भित्ति-चित्रों और अन्य चित्रों की शैली में यहाँ, योरप की भाँति अंतर नहीं है, किंतु भित्ति-चित्रों के उत्कर्ष और प्रमुखता का युग पूर्व मध्यकाल तक ही मानना पड़ेगा।

क—**पाल-शैली**—अब इस काल के पुस्तक-चित्र ही मुख्यतः प्राप्त हैं, शैली के अनुसार जिनके दो भेद हैं। इनमें से एक तो १०वीं शती से १३वीं शती तक के बंगाल, बिहार (मुख्यतः नालंदा और भागलपुर के निकट विक्रमशिला के) और नेपाल में लिखित **प्रज्ञापारमिता** आदि महायान बौद्ध पोथियों के और उनके इधर उधर के पटरों पर के चित्र हैं। यहाँ उन्हीं का परिचय दिया जायगा। दूसरे की सविस्तर चर्चा आगे की जायगी (§ २५ ख, ख १)। ये पोथियाँ बहुत बढ़िया जाति के ताल-पत्र (राजताल) पर लिखी होती हैं। पत्रों का माप प्रायः २२$\frac{१}{४}$″ × २$\frac{१}{४}$″ होता है। इन पत्रों पर बड़ी ही सुन्दर और जमी हुई देवनागरी लिपि के तात्कालिक

१—'सून्य भीति पर चित्र, रंग नहिं'—तुलसी।

रूप में ग्रंथ लिखा रहता है। अक्षर बिलकुल एक नाप-जोख के और मशीन के कटे हुए जान पड़ते हैं तथा उनकी स्याही का चटकीलापन आज भी ज्यों का त्यों दीखता है। इन पत्रों पर बीच बीच में महायान देवी, देवताओं और दिव्य बुद्धों के चित्र बने रहते हैं (फलक—८) और इधर-उधर के पटरों पर बुद्ध की जीवनी तथा जातकों के दृश्य रहते हैं। इनमें लाल (सिंदूर, हिंगुल तथा महावर), पीला (हरताल वा संभवतः प्योड़ी), नीला (लाजवर्ती तथा नील), सफेद एवं काला, ये मूल रंग तथा इनके मिश्रण से उत्पन्न हरे, गुलाबी, बैगनी, फाखतई आदि रंगों का प्रयोग मिलता है। जहाँ जिस रंग का प्रयोग है वहाँ, अधिकतर, उसी की गहरी रंगत से खुलाई की गई है। कहीं कहीं खुलाई के लिये काले रग का प्रयोग भी हुआ है। सोने का प्रयोग इनमें नहीं पाया जाता। पटरों पर के चित्रों पर उनकी रक्षा के लिये लाख चढ़ी होती है।

शैली की दृष्टि से उक्त तीनों केंद्रों के ऐसे चित्र प्रायः अभिन्न हैं। यदि कोई अंतर है तो यही कि नेपाल के कुछ चित्रों की मुखाकृति में कुछ मंगोलपन पाया जाता है जिसका कारण और कुछ नहीं, वहाँ के मानव रूप का प्रभाव है।

१६वीं शती के तारानाथ नामक तिब्बती इतिहासकार द्वारा निर्मित बैाद्ध इतिहास में भारतीय चित्रकला का इतिहास भी है।

उससे जान पड़ता है कि ७वीं शती में पश्चिम भारत में, मारवाड़ से एक चित्र-शैली प्रचलित हुई और ६वीं शती से पूर्व भारत में एक शैली चली। पहले तो नेपाल के चित्रकार पश्चिम भारतीय शैली में काम करते थे किंतु पीछे से उन्होंने पूरबी शैली को अपना लिया था। यही पूरबी शैली उक्त चित्रों की होनी चाहिए क्योंकि प्रायः ऐसे सभी चित्रित ग्रंथों में पाल संवत् वा पाल राजाओं का उल्लेख मिलता है जिनका साम्राज्य पूरबी भारत में था। अतएव आज-कल इस शैली को **पाल-शैली** कहना अनुचित न होगा। ६वीं शती से पूरबी भारत में चित्रण-शैली के चलने का राजनीतिक तात्पर्य यही हुआ कि पालों के समाश्रय में जिस प्रकार एक मूर्त्ति-कला प्रचलित हुई उसी प्रकार, प्रायः उसी क्षेत्र में, इस चित्रकला का भी विकास हुआ।

इस शैली में अजंता की परंपरा की विशेषताएँ सजीव रूप में पाई जाती हैं, यद्यपि साथ ही साथ ह्रास की विशेषताएँ भी दीख पड़ती हैं, जो मुख्यतः ये हैं—ध्यानों का एक निश्चित रूप; अंगों, मुद्राओं और ठवन में अकड़-जकड़; **सवाचश्म** चेहरों की अधि-कता तथा उनकी अतिरिक्त लंबी नाक। यह अतिरिक्त लंबी नाक वा परली आँख यद्यपि वेरूल (§ २० ङ) वा दन्दानउइलिक़ के (§ २२. अपर-भारत) किंवा आगे (§ २५ ख) उल्लिखित तथा-कथित जैन शैली के चित्रों की भाँति चेहरे की सीमा के बाहर

निकली हुई नहीं होती फिर भी पाल शैली के सवाचश्म चेहरे उक्त आलेखनों से बहुत मिलते हैं। इनमें के किसी किसी सवाचश्म चेहरे में उक्त विशेषताएँ पाई भी जाती हैं।

फिर भी इस काल की दूसरी शैली से, जिसकी चर्चा इसके बाद की जायगी इसमें ह्रास के चिह्न अपेक्षाकृत बहुत कम हैं और इसे पूर्व मध्यकालीन चित्रों के संग आसन मिल सकता है। इसका कारण बौद्ध प्रभाव हो सकता है क्योंकि यह कला, जैसा कि हमने अभी कहा है, पालों की समाश्रित थी जो बौद्ध थे। साथ ही उस समय भारत में बौद्धधर्म भी मुख्यतः नेपाल, बिहार और बंगाल ही में बच रहा था। तारानाथ ने भी इस बात का लक्ष्य किया है कि जहाँ जहाँ बौद्ध धर्म था वहाँ अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा कला का ह्रास कम हुआ था।

ये पाल पोथियाँ दुष्प्राप्य हैं। देश में इनके उदाहरण नेपाल के राजकीय पुस्तकालय तथा राजगुरु के पुस्तकालय एवं कलकत्ते के रॉयल एशियेटिक सोसाइटी, आचार्य अवनींद्रनाथ ठाकुर के संग्रह तथा श्री अजित घोष के संग्रह में और काशी के कला-भवन संग्रहालय में तथा बड़ोदा के संग्रहालय में हैं। विदेश में इनके अनेक उदाहरणों में से मुख्य, बोस्टन (अमरीका) के संग्रहालय में हैं।

ख—**तथाकथित जैन, गुजरात वा पश्चिम-भारत-शैली**—श्वेतांबर जैन संप्रदाय के—निशीथचूर्णी, अंगसूत्र, त्रिषष्टि-

शलाकापुरुषचरित्र, नेमिनाथचरित्र, कथारत्नसागर, संग्रहणीयसूत्र, उत्तराध्ययन सूत्र, तथा कल्पसूत्र + कालककथा इत्यादि इत्यादि— ग्रंथों की तालपत्र पर लिखित ११०० ई० से १५वीं शती के मध्य तक की सचित्र प्रतियों में तथा उसी शैली की कागद पर लिखी १४वीं शती के आरंभ से १५वीं शती के प्रायः अंत तक की प्रतियों में एक खास शैली के चित्र उरेहे गए हैं (फलक—६)। इस शैली की मुख्य विशेषताएँ ये हैं—

प्रायः सब चेहरे **सवाचश्म** तथा एक कैंड़े के, जिनकी नाक परले गाल से आगे को निकली हुई, कुछ कुछ गरुड़ की याद दिलानेवाली; ठुड्डी अतिरिक्त छोटी और आम की गुठली के आकार की जिससे हनु बहुत दूर और उसकी हड्डी उभरी हुई; आँखें पास पास तथा उनकी आकृति परवल की खड़े बल काटी हुई फाँक जैसी, जिनकी कटाक्ष-रेखा दूर तक बढ़ी हुई और पुतली अतिरिक्त छोटी; परली आँख चेहरे की सीमांत रेखा के बाहर निकली हुई, मानो अलग से जोड़ी गई; ऐंठी हुई अँगुलियाँ जैसे वायु-रोग के कारण उनकी यह दशा हुई हो एवं उनके सिरे ऐसे बोदे कि वे कपड़े की बत्तियाँ हों; वक्ष अतिरिक्त रूप से आगे निकला हुआ; उदर इतना कृश कि पचका हुआ जान पड़े; अंगभंगी, मुद्राएँ एवं आसन बिलकुल अकड़े-जकड़े हुए; पशु-पक्षी कपड़ों के गुड्डों-जैसे; प्रकृति, अर्थात् बादल, वृक्ष, पर्वत एवं नदी आदि की **लिखाई** आलंका-

रिक; चित्रों में प्रयुक्त रंगों की संख्या बहुत अल्प जिनमें लाल और पीले की प्रधानता; आकृतियों की खुलाई अर्थात् सीमांत रेखाएँ स्याही से की गईं और इतनी भोंड़ी कि वे रोएँ की **कलम** (ब्रश) से, जिसे आज-कल लोग भूल से कूँची कहते हैं, की गई जान नहीं पड़ती हैं बल्कि ऐसा मालूम होता है कि निब की तरह किसी धातु की कलम से की गई हैं, (**कलम** की **खुलाई** में एक तेजी रहती है और उसकी रेखाएँ छोर तक पहुँचते पहुँचते पतली हो जाती हैं, यह नहीं कि जिस मुटाई में वे चली आ रही हों उसी में उनका अंत हो जाय); **लिखाई** में जल्दबाजी, कमजोरी और कम कारीगर-पन।

इस शैली का नामकरण पहले पहल जैन-शैली किया गया। इसका कारण यह था कि उस समय तक इस शैली के चित्रों का परिचय केवल जैन पोथियों से मिला था। यह नाम यद्यपि अब छोड़ दिया गया है फिर भी यहाँ उसके अनैाचित्य का ब्योरा देना आवश्यक जान पड़ता है क्योंकि यह विषय अभी हिंदी-जगत् के लिये अपरिचित-सा है।

कम से कम अपने देश की कला में कभी संप्रदाय-परक भेद नहीं रहा है। उसमें जो कुछ अंतर है सो राजनीतिक युग वा काल-परक है। अतएव ब्राह्मण कला वा श्रमण (=बैाद्ध, जैन) कला, ऐसा नामकरण सर्वथा अयुक्त है। शुंगकाल, कुशाण-

काल, भारशिव-वाकाटक-काल, गुप्तकाल वा मध्यकाल की मूर्ति वा वास्तु कलाओं में किंवा चित्रों में कोई भी संप्रदाय-परक विभेद नहीं पाया जाता। यह दूसरी बात है कि उन उन संप्रदायों की विशेषताओं के कारण उनकी कलात्मक कृतियों में एकाध निजस्व हो किंतु उनका व्यापक रूप एक है।

यही सिद्धांत तथाकथित जैन कला के विषय में भी लागू होता है। सित्तनवासल के जैन चित्र अजंता वा बाघ के चित्रों से बिलकुल भिन्न नहीं। फिर १६वीं शती के तीसरे चरण से, भारतीय कला के पुनत्थान के बाद, जैन-विषय के चित्रों की कोई अलग शैली नहीं रह जाती। जहाँगीर-कालीन शालिवाहन के अंकित जैन चित्रों से लेकर आज तक के जैन चित्रों की कोई अलग शैली नहीं है। ऐसी दशा में सित्तनवासल—वेरूल के बाद १५वीं शती के ३सरे वा अधिक से अधिक अंतिम चरण तक ही एक अलग जैन शैली का अस्तित्व रहा हो, यह असंभव है।

यह बात अवश्य है कि उक्त हजार आठ सौ बरस तक जैन संप्रदाय का प्रभाव देश के एक बहुत बड़े हिस्से पर व्याप्त था। फलतः इस काल के अधिकांश चित्रित ग्रंथ जैन संप्रदाय के ही हैं। ऐसे ग्रंथ आज भी हजारों की संख्या में प्राप्त हैं। इसका कारण यही है कि जैन मतावलंबी अपने धन और धार्मिकता के लिये सदा से अद्वितीय रहे हैं; अतएव वे अपने ही लिये सचित्र सांप्रदायिक

ग्रंथ नहीं तैयार कराते थे बल्कि बहुत बड़ी संख्या में उनकी प्रतियाँ तैयार कराकर बाँटते भी थे। इन चित्रों में पाई जानेवाली ह्रास की उक्त विशेषताओं का एक कारण यह भी है कि उक्त प्रतियाँ बड़ी जल्दी में प्रस्तुत होती थीं; क्योंकि उनकी माँग बहुत अधिक तादाद में रहती थी।

किंतु उक्त प्रभाव का यह तात्पर्य नहीं कि एक अलग जैन शैली रही हो। चित्र-कला पर जैन प्रभाव केवल इस रूप में पड़ा कि इस व्रत-तपस्यावाले मत में प्रयुक्त होने के कारण अनेक शतियों तक इस (चित्रकला) का रूप भी बहुत कुछ निगृहीत रहा; जैन ग्रंथों के चित्रों वा अक्षरों के ११वीं शती से १५वीं शती के प्रायः अंत तक के मिलनेवाले उदाहरणों में कोई विशेष परिवर्तन न मिलेगा, जिसके विपरीत जहाँगीर और शाहजहाँ-कालीन चित्र-शैलियों में कितना अंतर हो जाता है।

'जैन शैली' नाम का समर्थन कुछ लोगों ने यह मानकर भी किया कि ये चित्र जैन साधुओं के बनाए हुए हैं; किंतु ऐसा मानने की कोई गुंजाइश नहीं पाई जाती। ये चित्र कुपढ़ चित्रकारों के बनाए हुए हैं जिन्होंने अपनी सूचना के लिये पोथियों की आयु (हाशिए) पर कहीं कहीं चित्रों के विषय-निर्देश टाँक लिए हैं। इन चित्रों की आकृति बिलकुल बँधी होने के कारण कभी कभी उन चित्रकारों ने उन आकृतियों को कतिपय इनी-गिनी रेखाओं द्वारा आयु पर लिख भी लिया है जिन्हें हम बीज-चित्र कह सकते हैं।

इनके सहारे वे पूरा चित्र बना लेते थे। फलक—६ में जो चित्र दिया गया है, उसकी आयु पर इस तरह के चित्र बने हैं। कहीं कहीं इन चित्रकारों ने, निरक्षरता के कारण, चित्र के बेठिकाने भी बना दिया है। अतएव उस समय के जैन साधुओं को चित्रकार मानना निरी कल्पना है।

'जैन-शैली' नाम इस कारण भी सदोष है कि ऐसे चित्र, जैसा हमने आरंभ ही में कहा है, केवल श्वेतांबरीय जैन ग्रंथों में मिलते हैं।

१९२५ ई० के लगभग गुजरात के प्रसिद्ध संस्कृत विद्वान् स्व० आचार्य केशवलाल हर्षदराय ुव के कपड़े पर लिखित और चित्रित एक लंबा खर्रा मिला। यह वसंत-विलास नामक श्रृंगारिक मुक्तक काव्य की प्रति है जिसमें संस्कृत और प्राचीन गुजराती के छंदों का संकलन है। इसका लिपिकाल १४५१ ई० है और लिपि-स्थान अहमदाबाद। इसमें पहले छंद और उसके बाद चित्र दिए गए हैं जिनकी संख्या उन्यासी है। ये चित्र सर्वथा उक्त शैली के हैं। इस आविष्कार से हमारे चित्र के इतिहास का एक नया अध्याय प्राप्त हुआ। इसका विषय सर्वथा ऐहिक होने के कारण, जो जैन सिद्धांतों से असंबंधित ही नहीं सर्वथा विपरीत भी है, जैन-शैली नाम का अंत हो गया। पहले पहल श्री न्हानालाल चमनलाल मेहता ने इन चित्रों का परिचय प्रकाशित किया और इनके अहमदाबाद में बने होने के कारण, उन्होंने इस शैली का नवीन

नामकरण गुजरात-शैली किया जिसे उस समय प्रायः सभी विद्वानों ने मान लिया। किंतु आगे चलकर इस विषय में कुछ मत-परिवर्तन हुआ, फिर भी यह नाम अंशतः चल रहा है।

इसके बाद तो इस शैली के कितने ही चित्रित अजैन ग्रंथ मिले, यथा—बालगोपालस्तुति, गीतगोविंद, दुर्गासप्तशती, रतिरहस्य (कामशास्त्र) एवं एक कथा-काव्य इत्यादि। इनकी प्राप्ति से जैन-शैली हवा हो गई, साथ ही 'गुजरात-शैली' नाम के परिवर्तन की आवश्यकता भी प्रतीत हुई क्योंकि अब इस शैली के कितने ही ऐसे ग्रंथ भी मिल चुके थे जिनका चित्रण-क्षेत्र गुजरात के बाहर था। अतएव डा० कुमारस्वामी ने 'पश्चिम-भारत-शैली' नाम का प्रस्ताव किया। उनकी मुख्य दलील यह थी कि प्राप्त ग्रंथों में से जो गुजरात के बाहर के हैं वे राजपूताने के हैं अतः यह शैली वही है जिसके विषय में तारानाथ ने लिखा है कि ७वीं शती में पश्चिम भारत—मारवाड़—से एक चित्र-शैली चली। किंतु यह नाम भी माना नहीं जा सकता।

हो सकता है कि तारानाथ की उक्ति ठीक हो और इस प्रकार के चित्र पहले पहल मारवाड़ में ही बनने लगे हों, फिर भी इस नाम में दो दोष हैं, एक तो यह शैली पश्चिम भारत तक ही सीमित नहीं। तारानाथ ने ही बताया है कि यह नेपाल में पहुँच गई थी। उपलब्ध उदाहरणों द्वारा हम इसको बहुत विस्तृत क्षेत्र में व्याप्त पाते हैं।

मालवे के गढ़मांडू में (जो धार से तेईस मील है) प्रस्तुत की गई इस शैली की सचित्र जैन पुस्तकों की अनेक प्रतियाँ मिलती हैं। अहमदाबाद के श्री साराभाई मणिलाल नवाब ने, जिन्होंने इस प्रकार के चित्रों पर विशेष शोध किया है और जैन चित्रकल्प-द्रुम नामक एक सुंदर ग्रंथ भी प्रकाशित किया है, जिसमें इस शैली के सैकड़ों सादे और रंगीन चित्र हैं, वहाँ की कोई साठ प्रतियों का नोटिस लिया है और इनमें से एक के चित्र अपने उक्त ग्रंथ में प्रकाशित भी किए हैं। मालवे में सुप्रसिद्ध भोज (लग० १००६–१०५४ ई०) के समय का एक ताम्रपत्र मिला है जिस पर इसी शैली का, गरुड़ का एक चित्र खुदा है।

इसी प्रकार काशी के पड़ोसी जौनपुर में इस शैली के चित्र बनते थे। श्री साराभाई को, यहाँ प्रस्तुत किया गया सचित्र कल्पसूत्र मिला है। इसका लिपिकाल १५२२ वि० = १४६५ ई० है। इसका लिपिकर पं० कर्मसिंह का पुत्र वेणीदास गौड़ कायस्थ है। यह एक मार्के की बात है; क्योंकि गौड़ कायस्थ पूर्व की ही जाति है। अतः यह प्रति निश्चित रूप से पूर्व की कृति है। श्री साराभाई से मुझे ज्ञात हुआ कि इसके सिवा उन्होंने जौनपुर के ऐसे और भी, कम से कम तीन कल्पसूत्र देखे हैं। तात्पर्य यह कि उक्त प्रति कोई आकस्मिक घटना नहीं; जौनपुर भी इस कला का एक केंद्र था।

भारत-कलाभवन में अवधी भाषा के किसी अज्ञात-नाम कथा-काव्य के छः पन्ने हैं जिनपर इसी शैली के चित्र बने हैं। संभवतः ये भी जौनपुर के हैं, क्योंकि उन दिनों जौनपुर संस्कृति का एक बड़ा केंद्र था।

इस शैली के पंजाब में बने, वहाँ की लोक-कथा लौर-चन्दा के चित्र लाहौर संग्रहालय में प्रदर्शित हैं।

यहीं तक बस नहीं। इस शैली के चित्र बंगाल और उड़ीसा में भी मिले हैं। बंगाल में तो यह शैली अपेक्षाकृत बहुत इधर तक जीवित थी। वहाँ का कोई तीन सौ वर्ष पुराना, बंगाक्षर में लिखा, बालग्रह नामक ग्रंथ श्री साराभाई के संग्रह में है जिसमें इस शैली के चित्र हैं। बंगाल के पटचित्रों तथा पुस्तक की पटरियों में भी इसकी परंपरा पाई जाती है। इसी प्रकार उड़ीसा के जगन्नाथ-जी के चित्रपटों में भी यह कला अद्यावधि जीवित है।

वेरूल में भोज के भतीजे उदयादित्य के बनवाए ११वीं शती के कुछ ऐतिहासिक भित्ति-चित्रों का उल्लेख इस अध्याय के आरंभ में हो चुका है। उनमें पुरुषों की मुखाकृति; बढ़ी हुई नाक और परली आँख; निर्णत उदर और अंगों की जकड़ साफ साफ इसी शैली की है।

दक्षिण भारत में इस शैली के चित्र १४वीं शती तक बनते थे (देखिए आगे, पृ० ८४-८५)।

बृहत्तर भारत में बरमा के पगान नामक स्थान में ११वीं से १३वीं शती तक के इस शैली के भित्ति-चित्र मिलते हैं। इस काल की स्याम की चित्रकला में भी इसकी विशेषता पाई जाती है।

इतनी व्याप्ति वाली चित्रकला के 'पश्चिमभारत शैली' नाम देना ठीक नहीं। यदि कहा जाय कि 'इसका अंकुर तो पश्चिम भारत से फूटा', तो ऐसा कहने की भी गुंजाइश नहीं, क्योंकि इस दलील के विरुद्ध वह दूसरा दोष लागू होता है जिसकी चर्चा हमने ऊपर रहने दी थी—

बात यह है कि इस शैली का कोई भावात्मक (पॉज़िटिव) निजस्व हुई नहीं। ऊपर हमने इसकी जो विशेषताएँ गिनी हैं वे अभावात्मक हैं; अर्थात् वे कहीं से भी प्रगति वा नवी-नता-द्योतक नहीं। वे तो केवल उस ह्रास की पूर्णता हैं जिसका आरंभ पूर्व मध्यकाल में वेरूल में हो चुका था और जिसकी झलक हम अपर-भारत के त्रिमुख के बाएँ मुख में भी पा चुके हैं (फलक—७ ख)। ऐसी अवस्था में इन चित्रों की कोई अलग शैली नहीं मानी जा सकती। शैली के लिये ह्रासोन्मुख नहीं, विकासोन्मुख विशेषताओं का होना लाजिमी है। तारानाथ की इस शैलो-विषयक उक्ति का केवल इतना मर्म हो सकता है कि—यह ह्रास ७वीं शती में मारवाड़ से, जो उस समय सांस्कृतिक तथा राजनीतिक दृष्टि से गुजरात के अंतर्गत था, आरंभ हुआ। इस कला की अधिकांश

कृतियों के गुजरात और बृहत्तर गुजरात में बनी होने के कारण भी उक्त मर्म का समर्थन होता है; अर्थात् वही प्रदेश इसका मुख्य केंद्र था। इस बात का और समर्थन होता है १२वीं शती के पाद-ताडितकम् नामक प्रहसन के एक अंश से।

हास्यप्रिय रचयिता कहता है कि लाट देश (आधुनिक गुजरात) के चित्रकारों, इन डिंडियों और वानरों में विशेष अंतर नहीं। ये कूँची[1] और स्याही की मैल लिए इधर उधर घूमा करते हैं तथा भीतों और उनपर बने हुए चित्रों को चील बिलार खिंचाकर नष्ट करते रहते हैं। रचयिता यहाँ जो व्यंग्य करता है उसकी तह में सचाई है। इस चित्रकला में

१—चित्रकार चित्र लिखने के लिये गिलहरी वा उससे मिलते-जुलते जानवरों की पूँछ के रोएँ से बनी जिस तूलिका का उपयोग करते हैं उसे वे **कलम** कहते हैं। कूर्च कुश को कहते हैं। उसी से √कूँच नामधातु बना है अर्थात् किसी वस्तु को आघात द्वारा कूर्च-जैसा बनाना। अत: कूँची तो उसी उपकरण को कहते हैं जो बाँस या सरकंडे का छिलका आदि कूँचकर बनाते हैं, जिनसे राज-मजदूर घरों की सफेदी करते हैं। आज-कल के हिंदी-लेखक जो चित्रकार की कलम के लिये 'कूँची' शब्द का व्यवहार करते हैं इस बारीकी को नोट करें और उक्त प्रहसन के व्यंग पर भी ध्यान दें जो जान-बूझ के डिंडियों के वास्ते तूलिका न कहकर, उपहास के लिये कूर्चिका कहता है।

ज्ञान और नई कल्पनाओं के अभाव तथा रूढ़ियों पर चलने के कारण और उन (रूढ़ियों) का वास्तविक अर्थ भूल जाने के कारण, चित्रकार, उन्हें निरर्थक भद्देपन के रूप में लिख रहे थे। साथ ही स्याही का उपयोग भी वे बहुत अधिक करते थे। उनको सारी **खुलाई** स्याही से ही हुआ करती थी, जैसा कि हमने ऊपर कहा है।

यों हम देखते हैं कि कला के इस ह्रास का, उक्त प्रहसन के समय में, गुजरात मुख्य केंद्र था। किंतु इसका यह तात्पर्य नहीं कि यह वहाँ की शैली थी। क्यों देलवाड़ा, शत्रुंजय, गिरनार आदि के मंदिर-समूह उस समय के गुजरात-मंडल के अंतर्गत हैं? जो कारण उनके विषय में है वही इन चित्रों के संबंध में भी है। गुजरात उस समय जैन संप्रदाय का मुख्य केंद्र था, फलत: उसके लिये हजारों-हजार चित्रित पुस्तकें बनती थीं।

अतएव गुजरात को 'गुजरात शैली' नाम का आग्रह न करना चाहिए, जिसकी प्रवृत्ति आज गुजराती विद्वानों में पाई जाती है। एक प्राचीन और महान् संस्कृति की परंपरा रहते हुए भी गुजरात को एक ऐसे कला-आभास के पीछे न दौड़ना चाहिए जिसमें न सौंदर्य है, न रेखाओं का **दम-खम** और न कल्पना की उड़ान। यह ह्रास तो जैसे उपहास की चीज पादताडितकम् के समय था वैसा ही आज भी है।

अच्छा तो इन चित्रों का बोध कराने के लिये कौन-सा नाम उपयुक्त होगा ?

कुछ वर्ष पहले हमने इसका नाम 'उत्तर-मध्यकालीन-शैली' विचारा था, परंतु उक्त अभावों के कारण यह भी पश्चिम-भारत-शैली की भाँति सदोष है; साथ ही इसमें अतिव्याप्ति दोष भी है, क्योंकि इसी काल की **पाल** तथा **कश्मीर शैलियाँ** (देखिए आगे पृ० ८५) इस शैली के बाहर हैं। फलतः बहुत ऊहापोह के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि इसका एकमात्र समुचित नाम **अपभ्रंश-शैली** हो सकता है।

जब इन चित्रों का आलेखन कोई नया उत्थान नहीं है; प्राचीन-शैली की विकृति मात्र है तो **अपभ्रंश** ही एक ऐसा शब्द है जिसके द्वारा उन विकृतियों की समुचित अभिधा एवं व्यंजना हो सकती है। इसी प्रकार उन विकृतियों के समवायरूपी जिस निजस्व से यह आलेखन बना है, उसके अर्थ में यहाँ **शैली** शब्द को लेना चाहिए।

इस सड़ाव और अधःपतन के युग में जिस प्रकार, चित्रकला का यह अपभ्रंश देश के अधिकांश में व्याप जाता है, उसी प्रकार प्राकृत भाषाओं का अपभ्रंश भी देश के अधिकांश में, साहित्य-वाहक के रूप में, फैल जाता है। इतना ही नहीं, **अपभ्रंश शैली** का अथ से इति तक का काल तथा **अपभ्रंश भाषा** के साहित्य का आरंभ और समाप्तिकाल प्रायः एक है। अपभ्रंश भाषा से

चित्रकला का यह स्वभाव-ऐक्य एवं सहगामित्व भी **अपभ्रंश शैली** नाम का समर्थक है। इस सहयोग को इस काल के विचक्षण कवि राजशेखर ने भी लक्ष्य किया था। तभी उसने अपनी 'काव्य-मीमांसा' में, चित्रकारों को—कविसमाज में—अपभ्रंश भाषा के कवियों के साथ बिठलाने का विधान किया है।

ख-१. **अपभ्रंश शैली के चित्र**—वेरूल वाले **अपभ्रंश शैली** के चित्रों के बाद इसके सबसे प्राचीन उदाहरण श्वेतांबर जैन संप्रदाय की निशीथचूर्णी नामक ग्रंथ की तालपत्र पर लिखी ११०० ई० की एक प्रति में हैं जो पाटन के संघवीना पाड़ा के ग्रंथ-भंडार में है। इसके बाद के उदाहरण भी तालपत्र पर लिखित श्वेतांबर जैन पोथियों में ही हैं जिनका समय ११०० ई० से १५०० ई० तक है। इनमें की कई मुख्य प्रतियाँ ये हैं—१-खंभात के शांतिनाथ-भंडार में ११२७ ई० के ज्ञाता तथा तीन अन्य अंग सूत्र; २-उसी भंडार में ११४३ ई० की दशवैकालिक लघुवृत्ति; ३-बड़ौदे के निकट एक जैन पुस्तक-भंडार में ११६१ ई० की एक ही पुस्तक में ओघनियुक्ति आदि सात ग्रंथ, इनमें सोलह विद्या-देवियों, सरस्वती, लक्ष्मी, अम्बिका, चक्रदेवी आदि के तथा कपर्दियक्ष और ब्रह्मशान्ति यक्ष आदि के एकीस चित्र हैं, (इनमें से सरस्वती के चित्र की परंपरा ग्वालियर राज्य के सोहानिया नामक स्थान में पाई गई पूर्व-मध्यकालीन सरस्वती की पाषाण प्रतिमा से मिलती है;)

४–पाटन के उक्त भंडार में १२३७ ई० का त्रिषष्ठिशलाकापुरुष-चरित्र, दशम पर्व; ५–खंभात के उक्त भंडार में १२४१ ई० का नेमिनाथचरित्र; ६–पाटन के उक्त पुस्तक-भंडार में १३७६ ई० का कथारत्नसागर तथा ७–बोस्टन (अमरीका) के संग्रहालय में १३६० ई० की श्रावकप्रतिक्रमणचूर्णी।

कपड़े पर के चित्रों में पाटन के उक्त ग्रंथ-भंडार का १४४३ ई० वाला चाँपानेर में प्रस्तुत हुआ पंचतीर्थी पट उल्लेखनीय है। इसके चित्रों की प्रतिकृति इंडियन आर्ट ऐंड लेटर्स नामक पत्र में (पृष्ठ ७१–७८, १६३२ ई०) प्रकाशित भी हो चुकी है। किंतु खेद, कि संप्रति इस पट का पता नहीं लग रहा है। इसके बाद वसंतविलास का नंबर है जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है। दैव-दुर्विपाक से अब यह भी वाशिंग्टन (अमरीका) की फ्रायर आर्ट गैलरी में पहुँच गया है।

अपभ्रंश शैली के कागद पर के चित्र भी मुख्यतः पोथियों में पाए जाते हैं। इनमें से कुछ का इंगित ऊपर हो चुका है। कल्प-सूत्र की सबसे पुरानी ज्ञात चित्रित प्रति १४१५ की है, जो रॉयल एशियैटिक सोसाइटी, बंबई के पुस्तकालय में है। इसी वर्ष की एक प्रति लीमडी के सेठ आणंद जी कल्याण जी की कोठी में है।

कागद की विशिष्ट प्रतियों में जौनपुर वाला कल्पसूत्र है जिसका उल्लेख ऊपर हुआ है। यह स्वर्णाक्षरों में लिखा है और इस

समय बड़ौदे के *नरसिंहजीनी* पोलवाले ज्ञानमंदिर में संरक्षित है। चित्रों के सिवा इसके हाशियों के अलंकरण भी विविध और बड़े ही सुन्दर हैं।

अहमदाबाद में मुनि दयाविजय जी के शास्त्र-संग्रह में कल्पसूत्र की एक प्रति है। इसपर संवत् तो नहीं दिया है, किंतु संभवत: यह १५वीं शती के उत्तरार्ध वा उससे भी तनिक बाद का है। इस स्वर्णाक्षरी प्रति में अपभ्रंश कला अपनी उत्तमता एवं आलंकारिकता की पराकाष्ठा को पहुँच जाती है। श्री नवाब की सम्मति में इसकी बराबरी करने वाली इस शैली की कोई चीज ज्ञात नहीं। इसके हाशियों पर राग-रागिनी एवं तान, मूर्छना तथा भिन्न भिन्न नृत्यों और भाव भंगी आदि के अनेक चित्र नाम सहित अंकित किए गए हैं, साथ ही ईरानी चित्रों की प्रतिकृतियाँ भी बनाई गई हैं।

जैनेतर (कागद पर लिखे) सचित्र ग्रंथों में बालगोपालस्तुति की एक प्रति बोस्टन संग्रहालय में, दूसरी गुजरात के श्री भोगीलाल जयचंद्र सांडेसरा के संग्रह में है एवं सप्तशती की प्रति बड़ौदे के प्रो० मंजुलाल मजमूँदार के संग्रह में है।

१३३६ ई० में तुंगभद्रा नदी के किनारे विजयनगर राज्य स्थापित हुआ। शीघ्र ही वह एक साम्राज्य में परिणत हो गया, जिसके अंतर्गत कृष्णा नदी के उस पार का समूचा दक्षिण भारत था। वहाँ के अधिपति बुक्कराय २तीय के मंत्री और सेनापति

इरुगप्पा ने १३८७-८८ ई० में जिन-कांची में एक संगीत-मंडप बनवाया और उसमें भित्ति-चित्र भी बनवाए। इनमें के कुछ अंश अभी तक बच रहे हैं। इनकी शैली सर्वथा **अपभ्रंश है।** वेरूल वा गुजरात के इस शैली वाले चित्रों से इनमें यदि कोई अंतर है तो इतना ही कि इनके चेहरे **सवाचश्म** न होकर **एकचश्म** हैं। **एकचश्म** चेहरे यों तो अजंता के शुंगकालीन चित्रों से लगातार चले आते हैं किंतु उनके चलन का सबसे पुराना ज्ञात नमूना रायचूर में मिला है। वहाँ के किले में पत्थर पर रेखा-चित्र खुदे हैं, जो १२९४ ई० के हैं। उनमें के चेहरे व्यापक रूप से **एकचश्म** हैं, अन्यथा वे **अपभ्रंश शैली** के हैं।

ग—**कश्मीर शैली**—तारानाथ लिखता है—कश्मीर के सबसे पुराने चित्रकार पुरातन पश्चिम शैली की 'मध्य-देशीय' उपशैली में के अनुयायी थे। किंतु पीछे, हसुराज नामक कलाकार ने वहाँ की चित्रकला और मूर्तिकला में नई रीतियाँ चलाईं जो उसके (तारानाथ के) समय में, अर्थात् १६०० ई० में चल रही थीं।

खेद है कि इस विवरण के रहते हुए भी इस शैली के संबंध में आज तक कोई खोज नहीं की गई, केवल स्मिथ ने इसके संबंध में इतना अनुमान किया कि कश्मीर के सबसे बड़े सम्राट् ललितादित्य ने ७४० ई० के लगभग कन्नौज विजय किया था। उसी समय मध्यदेश से, तोहफे के तौर पर, वह अपने यहाँ चित्रकार भी ले

गया होगा, जिन्होंने वहाँ 'मध्यदेश' की उपशैली का प्रचार किया होगा। यह कल्पना बड़ी क्लिष्ट है। मानो स्पेनवाले नई दुनिया के मैक्सिको का विजय करके वहाँ के कारीगर अपने देश में ले गए हों! भारत में सनातन सूत्रात्मक एकता के होते हुए ऐसी कल्पना की आवश्यकता नहीं रह जाती। अपने यहाँ जिस प्रकार देश के किसी भी केंद्र से धर्म, संस्कृति, समाजनीति और राजनीति आदि देश भर में छिटकती रही है उसी प्रकार मध्यदेशीय चित्रकला भी कश्मीर में पहुँची होगी। साथ ही स्मिथ ने हंसराज का समीकरण कश्मीर की कुख्यात रानी दिद्दा (१००० ई०) के मंत्री हंसराज से किया। किंतु राजतरंगिणी में इस विषय का कोई इंगित नहीं मिलता कि हंसराज कलाकार भी था।

वस्तुत: कश्मीर चित्र-कला का एक बहुत पुराना केंद्र जान पड़ता है। अपर-भारत में भारतीय चित्रकला के प्रचार का काम मुख्यतः कश्मीर ही के द्वारा हुआ।

राजस्थानी शैली, मुगल शैली और **पहाड़ी शैली** के निर्माण में भी **कश्मीर शैली** का हाथ रहा है। बल्कि यहाँ तक कहना अत्युक्ति न होगा कि अकबर-कालीन **मुगल शैली** अनेक अंशों में इसी **कश्मीर शैली** का रूपांतर है; इसी प्रकार **पहाड़ी शैली** इसका एक नया विकास मात्र है। इन विषयों पर आगे यथा-स्थान सविस्तर लिखा जायगा। यहाँ पर केवल

इतनी सूचना देनी है कि १५वीं शती से १८वीं शती तक के भारतीय चित्रकला के इतिहास में **कश्मीर-शैली** का महत्त्वपूर्ण स्थान समझे बिना वा उनके विषय में पूरी छान-बीन किए बिना, कोई ठोस काम नहीं किया जा सकता, अतएव विद्वानों को इस ओर प्रवृत्त होना चाहिए।

घ—**सिंहल के भित्ति-चित्र**—सिंहल के पोळोन्नारुअ नामक स्थान में अनेक मंदिर और मूर्तियाँ हैं। उनमें से एक में १२वीं-१३वीं शती के अनेक भित्ति-चित्र बने थे। खेद है कि समुचित रक्षण के अभाव में, हाल ही में, इनका अधिकांश नष्ट हो गया। इनमें जातकों के चित्र भी थे। शैली के अनुसार ये वेरूल के उन भित्तिचित्रों के, जिनमें **अपभ्रंश-शैली** का आरंभ नहीं हुआ है तथा **पाल-शैली** के बहुत निकट हैं।

§ २६. उत्तर-मध्यकाल में वृहत्तर भारत की चित्रकला—

क—**तिब्बत, चीन, नेपाल**—राजनीतिक पूर्व-मध्यकाल के आरंभ में तिब्बत के लोग निरे जंगली थे। किंतु तीन ओर से भारतीय प्रदेशों और चौथी ओर से चीन द्वारा वहाँ प्रकाश पहुँचा। खुतन और कूचा में जो भारतीय लिपि प्रचलित थी वह ७वीं शती के आरंभ में तिब्बत भी पहुँच गई। ६३० ई० में स्रोङ्चन-गंबो ने वहाँ एक साम्राज्य स्थापित किया। उसने नेपाल के राजा और चीन के सम्राट् की बेटियाँ ब्याही थीं। वे दोनों बौद्ध थीं। तिब्बत

के जीवन पर उनका बड़ा प्रभाव पड़ा। ६४१ ई० में हर्ष ने अपने दूत चीन भेजे जो दो वर्ष बाद तिब्बत के मार्ग से लौटे। इस प्रकार भारत और चीन के बीच तिब्बत का मार्ग कायम हुआ। इसके बाद तिब्बती शासकों ने भी नेपाल, मगध और कन्नौज से लगातार संबंध बनाए रखा।

६ठीं शती में महायान संप्रदाय के अंतर्गत बौद्ध वाममार्ग, वज्रयान का जन्म दक्षिण भारत में हुआ। ७४७ ई० में नालंदा के आचार्य शांतिरक्षित निमंत्रण पाकर तिब्बत गए। फिर १०४०-४२ ई० में विक्रमशिला से आचार्य दीपंकर-श्रीज्ञान तिब्बत गए। इस प्रकार वहाँ वज्रयान की जड़ जमी जो आज तक लामा-धर्म के रूप में प्रचलित है। अस्तु, भारतीय धर्म के साथ साथ भारतीय कला का भी तिब्बत में प्रचार हुआ। तिब्बत के १०वीं-१२वीं शती के चित्र **पाल-शैली** के बिलकुल पास हैं। वहाँ से यह शैली मंगोलिया और चीन की ओर बढ़ी जिसका परिणाम यह हुआ कि वहाँ के चित्रों में भारतीय प्रभाव की एक दूसरी लहर आई। फलत: इस काल के चीनी चित्रों में पहले से भी अधिक भारतीयता पाई जाती है।

चित्रविद्या के संबंध में, भारत के साथ साथ, तिब्बत अपर-भारत का भी ऋणी है। वहाँ के ७वीं-८वीं शती के चित्रपट, विधान में तिब्बती पटों के पूर्वज हैं।

इसी भाँति चीन ने चित्रविद्या में यदि तिब्बत से लिया तो उसे दिया भी। फलतः तिब्बती कला में चीनी प्रभाव भी पाया जाता है और वहाँ (तिब्बत में) चित्रों के दो प्रकार मिलते हैं। एक तो जो प्रायः सर्वथा भारतीय है। इसके अंतर्गत वहाँ के पुराने भित्तिचित्र और चित्रपट हैं, जो रेशमी वा सूती कपड़े पर बनते हैं तथा जिन्हें वहाँ एवं नेपाल में 'थानका' कहते हैं। दूसरा, जिस पर चीनी प्रभाव है। तिब्बत के आधुनिक पट प्रायः इसी दूसरी श्रेणी के हैं। इनमें अधिकतर बुद्ध के रूप रहते हैं जिनका निर्माण 'प्रमाण' के अनुसार, बंधे हुए नियमों पर, किया जाता है[१]। इनमें विशेष कला नहीं रहती। फिर भी कोई कोई तिब्बती चित्रपट रंग और रचना की दृष्टि से बड़े मार्के का होता है। इस प्रकार का एक पट पटना संग्रहालय में है जिसमें भैरव वर्ग के किसी भयानक देवता का ध्यान है, जो अच्छी से अच्छी पाल-कालीन रचना से टक्कर लेता है; सारे चित्र की **झलक** (टोन) श्याम-कृष्ण (ब्ल्यू ब्लैक) है। तिब्बत तथा नेपाल में ऐसी सचित्र पोथियाँ भी

१—राहुलजी ने तिब्बती चित्रकला के विधान और 'प्रमाण' आदि का प्रायः समग्र वर्णन ना० प्र० प० (नवीन०) भाग १८, पृ० ३२५-३४६ में किया है। इससे पाया जाता है कि पुराने भारतीय वा इधर के **मुगल शैली** आदि के विधान से वहाँ विशेष अंतर नहीं। यही विधान प्रायः सारे एशिया का है।

तैयार होती आई हैं जिनमें पाल-कालीन पोथियों की परंपरा है। ये अकसर काले कागद पर सोने वा चाँदी के अक्षरों से लिखी होती हैं।

तिब्बत ने उक्त चीनी प्रभाव नेपाल को भी दिया। इस प्रकार यहाँ भी चित्रकला की भारतीय और चीनी प्रभाव युक्त शैलियाँ चली आती हैं। नेपाल रोगनी (अर्थात् तेल के पक्के रंगों वाले) चित्रपट भी बनाता है। संभवतः यह उसका निजस्व है, क्योंकि इस विधान पर न तो पश्चिमी प्रभाव है, न ऐसा काम तिब्बत आदि में होता है।

जिस प्रकार तिब्बत ने चीन की चित्रकला को प्रभावित किया उसी प्रकार नेपाल ने भी अपने कलाकार उधर भेजे। इसका एक निर्दिष्ट उदाहरण प्राप्त है। १२७६ ई० में चंगेज खान के तीसरे उत्तराधिकारी कुब्लइ खान के शिल्प-कौशल-संबंधी कारखानों का व्यवस्थापक एक नेपाली कलाकार नियुक्त हुआ। उसने अपने चीनी स्वामी के लिये बहुसंख्यक मूर्तियाँ और चित्र बनाए तथा शागिर्द भी तैयार किए।

नेपाल के चित्रकार तिब्बत में भी बसे और वहाँ की भारतीय परंपरा बनाए रहने में सहायक हुए।

१३वीं-१४वीं शती की तिब्बत, चीन, नेपाल की चित्रकला में आदान-प्रदान की धारा-प्रतिधारा के कारण एक व्यापक समानता है।

कश्मीर और तिब्बत का इस काल में और इसके बाद चित्र-विषयक क्या संबंध था, यह खोज की वस्तु है।

ख—**अपर-भारत**—इस काल में चीन, तिब्बत और सब से बढ़कर मंगोलों के आतंक-वश अपर-भारत की संस्कृति नष्ट-भ्रष्ट हो रही थी, फिर भी वहाँ की चित्रकला किसी न किसी रूप में १३वीं शती तक जीवित थी, क्योंकि उसका संबंध धर्म से था और धार्मिक कृत्यों में अकसर चित्रों की आवश्यकता पड़ती थी एवं उपयोग होता था। मार्कोपोलो के यात्रावृत्तांत में इसके उल्लेख पाए जाते हैं।

मानी नामक एक चित्रकार और धर्मप्रवर्तक मध्यकाल में, अपर-भारत में हुआ। उसकी एक अपनी शैली थी; किंतु उसमें भारतीय प्रभाव भी विद्यमान है। मानी भारत में आया भी था। इसकी शैली का भी ईरानी चित्रकला पर प्रभाव पड़ा। इस प्रकार भी प्रकारांतर से भारतीय प्रभाव ईरान तक पहुँचा।

ग—**बरमा तथा स्याम**—बृहत्तर भारत के पूर्वी भाग से हमारा संबंध प्राय: ६ठीं शती ई० पू० से स्थापित हो गया था। क्रमशः वहाँ की असभ्यता दूर की गई और आर्य सभ्यता का प्रसार हुआ। ५८ ई० पू०—७८ ई० में वहाँ भारतीय बस्तियाँ खूब बढ़ीं और कई भारतीय राज्य स्थापित हो गए। इनमें से उस क्षेत्र में, जिसे आजकल बरमा कहते हैं, ई० ८वीं शती में पुराने पगान में एक नई राजधानी निवेशित हुई। वहीं के कई

मंदिरों (पगोडा) में भित्ति-चित्र बने हैं। इनमें अधिकांश ११वीं-१३वीं शती के हैं। उनमें कहीं तो **पाल-शैली** की छाप है और कहीं स्पष्ट रूप से **अपभ्रंश शैली** का आलेखन है जिसकी चर्चा ऊपर हो चुकी है।

स्याम में भी **अपभ्रंश शैली** से प्रभावित चित्र पाए गए हैं, इसकी चर्चा ऊपर हो चुकी है। इनके सिवा वहाँ वाट सी-जुम् में १४वीं शती के, पत्थर पर उत्कीर्ण कुछ रेखाचित्र हैं जिनमें स्यामी शैली की कोई विशेषता नहीं पाई जाती। वे सिंहल के पोळोन्नारुअ के उक्त १२वीं-१३वीं शतीवाले भित्ति-चित्रों से इतने अधिक मिलते हैं कि, कुमारस्वामी के अनुसार, उन्हें सिंहली शिल्पियों ने बनाया है। स्याम की चित्रकारी जो—भित्ति-चित्र, पुस्तक-चित्र और चित्रपट के रूप में पाई जाती है—कभी बहुत ऊँचे दरजे तक नहीं पहुँची।

पाँचवाँ अध्याय

§ २७. **१५वीं शती से सांस्कृतिक पुनरुत्थान**—राजनीतिक इतिहास के अनुसार मध्यकाल का अंत और अर्वाचीन काल का आरंभ १५०६ ई० से होता है। किंतु, जहाँ तक संस्कृति का संबंध है, १५वीं शती से एक निश्चित और व्यापक पुनरुत्थान प्रारंभ हो जाता है। यह वह समय था जब गुजरात, मालवा और जौनपुर की स्वतंत्र सल्तनतें स्थापित हो गई थीं। ये तीनों ही संस्कृति और उदार शासन की केंद्र थीं।

इस सांस्कृतिक नवयुग के अंतर्गत हम जिन विषयों की उन्नति को गिनते हैं उन्हें अब एक एक करके लेंगे—

क—**संगीत**—जौनपुर के इब्राहीमशाह शर्की (१४०१—१४३७ ई०) तथा उसके पौत्र हुसेनशाह शर्की (१४५७—१४७६ ई०) के दरबारों में भारतीय संगीत की विशेष उन्नति हुई। वहाँ से ख्याल-गायकी की एक नई पद्धति चली और कम से कम तीन नए रागों की उपज हुई।

इसी शर्की सल्तनत में उस इलाके के, जिसका केन्द्र कड़ामानिकपुर था, शासक मलिक सुलतानशाह के पुत्र बहादुर मलिक ने संगीत के जीर्णोद्धार और संजीवन के लिये एक वृहत् सम्मेलन किया जिसमें चारों दिशाओं के कलावँतों को एकत्र करके तथा संगीतरत्नाकर आदि संगीत के अठारह ग्रंथों को बटोर के सब विवादास्पद बातों का निर्णय कराया और १४२८ ई० में संगीतशिरोमणि नामक ग्रंथ प्रस्तुत कराया जिसमें कुल निर्णीत बातें निहित थीं। शीघ्र ही इस ग्रंथ का प्रचार दूर दूर तक हो गया।

इसी समय के लगभग मेवाड़ में प्रतापी और कलाप्रेमी महाराणा कुंभा का राज्य प्रारंभ हो चुका था। वह भी बड़ा संगीतप्रेमी, गायक और निपुण वीणा-वादक था। उसने संगीत पर संगीतराज नामक ग्रंथ लिखा, संगीतरत्नाकर और गीतगोविंद की टीका की तथा अनेक देवताओं की गेय स्तुतियाँ भी बनाईं। उधर कश्मीर में परम उदार शासक जैनुल आब्दीन अन्य कलाओं की उन्नति के साथ साथ संगीत की उन्नति में भी प्रवृत्त था। उसके दरबार में भारतीय राग और पद गाए जाते थे तथा बीन बजती थी। उक्त संगीतशिरोमणि की एक प्रति उसके पास उपायन में पहुँची थी।

तिरहुत में विद्यापति और बंगाल में चंडीदास भी इसी शती में हुए। उनके गेय पदों के कारण उन प्रांतों में भी संगीत के यथेष्ट पुनरुत्थान की संभावना होती है।

सारांश यह कि देश भर में संगीत का पुनरुत्थान प्रारंभ हो गया था।

ख—**वास्तु**—उत्तर-मध्यकाल की आरंभिक शतियों के साथ वास्तु-कला एक प्रकार से अस्त हो जाती है। १३वीं शती के प्रारंभ वाले कुतुब के लाठ के सिवा १५वीं शती तक मुसलिम वास्तु का भी ऐसा एक उदाहरण नहीं जिसकी ओर अंगुलि-निर्देश किया जाय। किंतु १५वीं शती के साथ वास्तु का भी एक निश्चित नवजीवन आरंभ होता है। मेवाड़ में महाराणा कुंभा ने बड़े भव्य और सुंदर मंदिर, प्रासाद तथा कीर्ति-स्तंभ बनवाए। उसकी प्रजा ने भी उसका अनुकरण किया। कश्मीर, मालवा, गुजरात और बंगाल की सल्तनतों ने भी अच्छी अच्छी मसजिदें, मकबरे, सराय और महल बनवाए। इन सभी मुसलिम इमारतों का वास्तु और अलंकरण भारतीय है जिसमें सरसानी वास्तु और अलंकरण के केवल वे अंश लिए गए हैं जिनसे चारुता में कमी नहीं आ सकती थी।

मान तोमर का ग्वालियर दुर्ग और प्रासाद १४८६ ई० में तैयार हुआ। यह वास्तु का बड़ा उत्कृष्ट उदाहरण है। इस प्रकार यह लहर भी व्यापक थी।

ग—**भक्ति**—१४वीं शती के उत्तरार्ध में रामानंद ने, जो रामानुज की परंपरा में थे, देशभाषा के द्वारा अपना प्रचार आरंभ किया। वे बिना किसी भेद-भाव

के सबको शिष्य बनाते थे। इसी १५वीं शती में इनके मुख्य शिष्य कबीर हुए जिनका महान् व्यक्तित्व धार्मिक मिथ्याचार और स्वेच्छाचार के विरुद्ध भभक उठा। उन्होंने शाक्त मत का, जिसका कई रूपों में उस समय जोर था, एवं हिंदू-मुसलिम की धर्मांधता के कड़वे परिणामों का तीव्र विरोध किया और इन दोनों को निकट लाने के लिये सबसे पहले रहस्यमय निर्गुण भक्तिधारा बहाई। महाराष्ट्र में उनके तुल्यकालीन प्रसिद्ध भक्त नामदेव हुए जिन्होंने बाह्य साधनों का थोथापन बताकर मन की शुद्धि और हरि के ध्यान का सच्चा मार्ग दिखाया। इसी शती के उत्तरार्ध में निर्गुण भक्ति के सबसे सफल प्रचारक गुरु नान्हक (१४६८—१५३८ ई०) हुए और इसी शती के बीतते बीतते चैतन्य महाप्रभु (१४८५—१५३३ ई०) ने सगुण भक्ति का प्रचार करके वज्रयान और वाममार्ग से बंगाल का उद्धार किया। प्रायः इसी समयांतर में वल्लभाचार्य ने व्रज को अपना केंद्र बनाकर बड़ी उत्कृष्ट सगुण भक्ति का प्रचार किया। उन्होंने अपनी भगवत्सेवा-पद्धति में कलाओं को प्रमुख स्थान दिया।

घ—**साहित्य**—विद्यापति ने १३८० ई० में अपनी अपभ्रंश की कीर्तिलता पूरी की। इसके कुछ ही बाद से १४४७ ई० तक वे मैथिल पद लिखते रहे। यही काल साहित्यिक संक्रांति का है क्योंकि कीर्त्तिलता अपभ्रंश की

अंतिम पुस्तक है; दूसरी ओर उनके पदों की रचना ऐसी मैथिल में है जिसका मुँह अपभ्रंश की ओर नहीं, वर्तमान मैथिल की ओर है। उधर बंगला साहित्य का उदय राजा गणेश (१४०६—१५ ई०) के समय में हुआ। चंडीदास के प्रसिद्ध पद इसी काल के हैं। इधर कबीर ने पूरबी हिंदी में अपने पद, दोहे और झोलने रचे। नामदेव ने मराठी के साथ हिंदी रचनाएँ भी कीं।

इस शती के उत्तरार्ध में नान्हक ने निर्गुण भक्ति के पद गाए और इसके अंत होते होते जो भी गायक हुए उन्होंने अपनी अपनी रचनाएँ कीं। इनमें से बैजू बावरा की रचना में पर्याप्त साहित्यिकता और व्रजभाषा की रीति-कविता का बीज निहित है। सूरदास के पदोंका भी बनना संभवत: १५वीं शती से आरंभ हो गया था एवं रीति-कविता के प्रथम कवि गंग भी प्राय: इसी शती के अंत से कविता करने लगे थे।

इस शती के पिछले वर्षों से अवधी के कथा-काव्य भी बनने लग गए थे। यद्यपि इनका सबसे जगमगाता रत्न जायसी की पदमावत १६वीं शती के पूर्वार्ध की रचना है, किंतु उसके पहले की भी कम से कम चार रचनाएँ थीं जिनका इंगित जायसी ने किया है। इनमें से मृगावती का रचनाकाल १५०१ ई० है। इस प्रकार कथा-काव्य के साथ ही अवधी के साहित्य का आरंभ भी १५वीं शती में स्थिर होता है।

इसी शती के अंतिम दशक में बीजापुर से, बैरागी सेना के प्रभाव-वश, दकनी हिंदी और उसके साहित्य का जन्म हुआ जो उर्दू और खड़ी बोली के वाङ्मय का मूल है।

इस प्रकार वाङ्मय का भी नवीन युग १५वीं शती से आरंभ होता है।

§ २८. **चित्रकला का पुनरुत्थान**—चौमुखे सांस्कृतिक पुनरुत्थान वाली इस शती में चित्रकला का पुनरुत्थान न हुआ हो, यह असंभव है।

क—ऊपर कह चुके हैं कि 'अपने यहाँ भित्तिचित्र की परंपरा आज तक चली आई है' (पृ० ६६)। सो, महाराणा कुंभा के वास्तु में उसे निश्चयपूर्वक स्थान मिला होगा। इस काल के गढ़मांडू (मालवा) के भवन भी चित्रित किए गए थे। वहाँ के गदाशाह के भवन में अवशिष्ट मेदनीराय और उनकी पत्नी के चित्र इसके साक्षी हैं।

ख—रागमाला और उसके ध्यान इस शती में विद्यमान थे। फिर संगीत की इतनी उन्नति के साथ रागमाला के चित्रों की माँग न हुई हो, ऐसा नहीं हो सकता।

ग—कथा-काव्य की सचित्र प्रतियाँ और उसके बाद रीति-काव्य के छंदों के चित्र भी अपेक्षित रहे होंगे। और सर्वोपरि—

घ—जिन प्रवर्तकों ने लोक के विचार में उथल पुथल मचा दी थी उनके चित्र उनके अनुयायियों के लिये आवश्यक रहे होंगे।

ङ—इसी प्रकार सगुण भक्तिमार्ग के मुख्य उपास्य कृष्ण की लीला और स्तुतियों के चित्रों की भी बड़ी माँग रही होगी।

किंतु उक्त सब आवश्यकताओं को स्वीकार कर लेने पर भी प्रश्न तो यह खड़ा होता है कि इनकी पूर्ति के लिये जो चित्र बनते थे वे उत्तर-मध्यकाल में व्याप्त **अपभ्रंश शैली** के होते थे वा संस्कृति के अन्य अंगों की भाँति चित्रकला के भी दिन बहुरे थे।

भित्ति-चित्रों के संबंध में अभी तक कोई खोज नहीं हुई है, अतः उनका कोई सहारा नहीं रह जाता। रागमाला कथा-काव्य तथा कृष्णलीला और स्तुति के वे चित्र जिनकी चर्चा ऊपर यथाक्रम पृ० ७५, ७७ तथा ८४ पर हो चुकी है, इसी शती के बने हुए हैं। उनसे उक्त प्रश्न के विरुद्ध उत्तर मिलता है, क्योंकि वे सब **अपभ्रंश शैली** के हैं।

परंतु जहाँ यह बात है वहाँ कुछ ऐसी बातें भी मिलती हैं जिनसे चित्रकला का नवयुग भी १५वीं शती से प्रमाणित होता है। यह उत्थान **राजस्थानी शैली** के रूप में था जैसा कि हम अभी देखेंगे।

§ २६. **राजस्थानी शैली**— क—उक्त अपभ्रंश चित्रों में से बालगोपालस्तुति की दोनों प्रतियों में वृक्षों की पत्तियों का जो

आलेखन हुआ है उसमें **अपभ्रंश शैली** की परंपरा बिल्कुल छोड़ दी गई है और उसके स्थान पर एक दूसरा आलेखन काम में लाया गया है। यह आलेखन १६वीं-१७वीं शती के **राजस्थानी शैली** वाले चित्रों के वृक्षों का सद्यः पूर्वज है। इसी प्रकार **अपभ्रंश** चित्रों में स्त्रियों की चोलियों का अंकन रूढ़िगत चलता है, किंतु 'स्तुति' के चित्रों में उनका आलेखन उस प्रकार हुआ है जैसा उस समय की स्त्रियाँ पहनती थीं, अर्थात् उन चोलियों के आगे पीछे का पल्ला नीचे से थोड़ा-थोड़ा खुला रहता है। आरंभिक **राजस्थानी** चित्रों में यह बात बराबर पाई जाती है। 'स्तुति' की बोस्टनवाली प्रति में एक जगह **सवाचश्म** चेहरे के बदले **एकचश्म** चेहरा आया है जो **राजस्थानी शैली** का निजस्व है। इन विशेषताओं से जान पड़ता है कि उस समय **राजस्थानी शैली** चल पड़ी थी जिसमें उक्त विशेषताएँ रहती थीं और उसी की देखा-देखी **अपभ्रंश चित्रों** में भी अंकित की गई हैं। अन्यथा ये ऐसी संकीर्ण कला में कैसे आ जातीं ?

इसी काल के कबीर, नान्हकदेव और वल्लभाचार्य की छवियाँ भी मिलती हैं। यद्यपि ऐसी शबीहों का समय अपेक्षाकृत इधर का है, किंतु उनकी आकृतियाँ इतनी निश्चित हैं और उनमें इतनी वास्तविकता है कि वे असंदिग्ध रूप से असली और समसामयिक चित्रों की पारंपरीण प्रतिकृतियाँ प्रमाणित होती हैं। इन चित्रों में

अपभ्रंश शैली की कोई **धुन** नहीं मिलती और न उस शैली में ऐसी शबीह लिखने की शक्ति ही थी, अतएव ये तीनों ही छवियाँ मूलतः **राजस्थानी शैली** की हैं।

रूपमती और बाजबहादुर के वन-विहार और शिकार के चित्र तथा रूपमती की अकेली छवि भी परंपरा से चली आ रही है। इनमें भी मूल **राजस्थानी** प्रकृति अभी तक जीती जागती है। रूपमती-बाजबहादुर की कहानी १५६२ ई० तक तय हो चुकी थी। अतएव इन चित्रों के बीज उसके पहले के होने चाहिएँ।

ऊपर एक कल्पसूत्र की आयु पर बने राग-रागिनी और नृत्य के करण आदि के चित्रों का उल्लेख हुआ है (पृ० ८४)। इनकी शैली अपभ्रंश होते हुए भी इनमें जो **पौने दो** एवं **डेढ़चश्म** चेहरे हैं उन पर स्पष्ट **राजस्थानी शैली** का प्रभाव है। ऐसा प्रभाव इस शैली के अस्तित्व बिना कैसे पड़ता?

इन प्रमाणों से **राजस्थानी शैली** का आरंभ १५वीं शती के उत्तरार्ध से १६वीं शती के पूर्वार्ध के बीच, संभवतः १५०० ई० के लगभग, असंदिग्ध रूप से प्रतिपादित होता है।

ख–राजस्थानी शैली का **अपभ्रंश शैली** से, विषयों में उतना अंतर नहीं है जितना विधान और आलेखन संबंधी कुछ बातों में। जहाँ तक विषयों का प्रश्न है, **अपभ्रंश शैली** की, **शबीह** के अभाव और जैन चित्रों की प्रचुरता के सिवा, आरंभिक

राजस्थानी शैली से बहुत कुछ समानता है। दोनों में रागमाला, शृंगार, ऋतु और कृष्ण के चित्र मिलते हैं। शेषोक्त शैली में उनकी प्रधानता है, **अपभ्रंश शैली** में वे गौण हैं।

दोनों में विधान और आलेखन के मुख्य अंतर ये हैं—

> अपभ्रंश चित्र मुख्यतः ग्रंथ-चित्र हैं और इकहरे कागद पर बने हैं जब कि राजस्थानी चित्र मुख्यतः छिन्न चित्र हैं, अर्थात् वे अलग अलग **वसलियों** (एक संग जमाए हुए कई पर्त कागद) पर बने हैं। दूसरा अंतर **एकचश्म** चेहरे का है। **अपभ्रंश शैली** में तीर्थंकरों वा देवी-देवताओं के **सम्मुख** चेहरों को छोड़कर, शेष चेहरे **सवाचश्म** हैं। इधर **राजस्थानी शैली** में **एकचश्म** चेहरों की प्रधानता है। पिछले **अपभ्रंश सवाचश्म** चेहरों में परली आँख के बिलकुल निरर्थक हो जाने के कारण और परले गाल के प्रायः निःशेष हो जाने के कारण जो कुछ बच रहता है वह **एकचश्म** चेहरा है। यही आरंभिक **राजस्थानी शैली** में ज्यों का त्यों ले लिया गया है। तीसरा अंतर रंगों का है। अपभ्रंश शैली की **वर्णिका** मुख्यतः लाल और पीले रंग की (जिसका स्थान पीछे से सोना ले लेता है) है। इसके विपरीत **राजस्थानी शैली** का चित्रकार अनेक चटकीले रंगों का प्रयोग करता है और उनका **वज़न** ऐसा

रखता है कि, यद्यपि उसके मुख्य रंग भी लाल और पीले ही हैं, वे सब रंग बोला करते हैं एवं आँख लाल, पीले को अनदेखा कर देती है।

इन मुख्य भेदों के सिवा **राजस्थानी** चित्र **अपभ्रंश शैली** की अन्य विशेषताओं—भावों के अभाव, मुखाकृति, आँख, अलंकरण, पेड़-पालों एवं जल के आलंकारिक आलेखन तथा इमारत पर के बेलबूटों—को बहुत दिन तक निभाए चलता है। इस तुलनात्मक अध्ययन का सारांश यही निकलता है कि **राजस्थानी शैली अपभ्रंश शैली** का एक नवीन उत्थान है। दूसरे शब्दों में, ९वीं-१०वीं शती से जो अवनति होती आ रही थी उसके बदले अब उन्नति का क्रम चल पड़ा।

यह पुनरुत्थान गुजरात और दक्षिणी राजस्थान—मेवाड़—में हुआ जान पड़ता है। आरंभिक **राजस्थानी** चित्रों में अंकित वास्तु १५वीं शती के गुजरात का है। अकबर के समय में गुजरात, अन्य कलाओं के साथ साथ चित्रकला का एक मुख्य केंद्र था। अकबर के मुख्य चित्रकारों में से कम से कम छः गुजराती थे। अब इसके आगे बढ़िए—१५वीं शती का प्रसिद्ध गुजराती सुलतान महमूद बेगढ़ा कला का एक प्रमुख समाश्रयदाता था। कश्मीर उसका मित्र-राज्य था और वहाँ उस समय ज़ैनुल्आब्दीन का परम उन्नत और उदार राज्य था जैसा कि इस अध्याय के आरंभ ही

में कहा जा चुका है। ऐसी कोई भी कला न थी जिसे उस महामना ने समुन्नत न किया हो। ऊपर (पृ० ८५–८७) हम देख चुके हैं कि वहाँ अपनी चित्रकला की एक शैली विद्यमान थी। इसमें अजंता की सजीवता पर्याप्त मात्रा में बच रही थी जैसा कि हम आगे देखेंगे। सो उधर कश्मीर में और इधर गुजरात में जब ऐसे बानक बने हुए थे तो वहाँ से चित्रकारों का इधर आना सर्वथा संभव है। कुंभा ने भी अपनी गुण-ग्राहकता के कारण कश्मीरी चित्रकार बुलाए हों तो आश्चर्य नहीं। **अपभ्रंश शैली** से **राजस्थान शैली** की जो विभिन्नताएँ (अर्थात् नूतनताएँ) हैं, उनमें से कई निश्चयपूर्वक **कश्मीर शैली** की हैं।

यहाँ तक हमने देखा कि—(१) **राजस्थानी शैली** का उद्‌भव **अपभ्रंश शैली** से, (२) गुजरात—एवं मेवाड़—में, (३) **कश्मीर शैली** के प्रभाव द्वारा, (४) १५वीं शती में हुआ। ऐसे कतिपय चित्र प्राप्त हैं जिनमें कहीं पर **मुगल** प्रभाव नहीं पाया जाता अर्थात् वे निश्चयपूर्वक १५वीं शती के हैं। भारतकला भवन का बंगाल रागिनी वाला चित्र इन्हीं में का है (देखिए फलक—१०)।

इन प्रारंभिक **राजस्थानी** चित्रों में पुरुषों का जो पहनावा, अर्थात् पगड़ी, जामा, पायजामा और पटका, पाया जाता है उसके

कारण ये **मुगल कला** से व्युत्पन्न नहीं प्रमाणित किए जा सकते क्योंकि यह परिच्छद मुगल नहीं भारतीय है जिसे अकबर ने कुछ परिवर्तनपूर्वक ग्रहण किया था[1]।

किंतु **राजस्थानी शैली** के १५वीं शती से आरंभ के लिये हम उक्त चित्रों की ही साक्षी पर अवलंबित हों, सो नहीं। अकबर के लिये १५६० ई० से आरभ करके १५७५ ई० तक किस्सा अमीर हम्जा की एक विस्तृत चित्रावली तैयार की गई थी जिसकी चर्चा विशेष रूप से अगले अध्याय में की जायगी। इस चित्रावली में कितने ही अंश ऐसे हैं जो असंदिग्ध और निर्विवाद रूप से **राजस्थानी** हैं। इनके संबंध में तर्क की आवश्यकता नहीं। इन्हें देखते ही इनकी शैली के विषय में किसी शंका की गुंजाइश नहीं रह जाती। अतएव इन उदाहरणों के सामने कोई दलील नहीं चल सकती। यदि हम्जा चित्रावली के समय तक **राजस्थानी शैली** का एक निश्चित रूप न हो गया होता तो वह इसमें कहाँ से आती? इस निश्चित रूप के लिये कम से कम पचास वर्ष का समय तो चाहिए।

§ २०. **राजस्थानी शैली का वर्गीकरण तथा समुचित नाम**—डा० कुमारस्वामी ने **राजस्थानी शैली** का वर्गीकरण

१–देखिए—'हिंदुस्तानी', अपरैल १६३१, पृ० २२७-२३६.

पहाड़ी शैली के साथ **राजपूत शैली** नाम की एक प्रधान शैली के अंतर्गत किया है; अर्थात् उन्होंने अर्वाचीन काल की भारतीय चित्रकला के मुख्य दो वर्ग रखे हैं—**राजपूत शैली** और **मुगल-शैली**। किंतु **राजपूत शैली** मानने की कोई गुंजाइश नहीं है। यद्यपि राजपूत-जाति एक शासक-जाति थी, तो भी एक ऐसी जाति का प्रभाव समष्टि रूप से कला पर नहीं पड़ सकता जिसके देश भर में भिन्न भिन्न केंद्र हों, साथ ही परंपरा एवं राजनीतिक परिस्थिति भी भिन्न भिन्न हों। फिर **राजस्थानी** और **पहाड़ी शैलियों** के कलात्मक निजस्वों, जैसे—विषयों, अभिव्यक्ति, अंकनशैली आदि में इतना अंतर है कि दोनों एक शीर्षक के अंतर्गत नहीं आ सकतीं। पहली मुख्यत: आलंकारिक, दूसरी अभिव्यंजनात्मक (=रसात्मक) कला है। **राजस्थानी** का जन्म १५वीं शती में **अपभ्रंश शैली** से हुआ, जैसा कि हमने अभी देखा है; **पहाड़ी** का जन्म १७वीं शती के उत्तरार्ध से १८वीं शती के पूर्वार्ध तक **कश्मीर शैली** से हुआ जैसा कि हम आगे देखेंगे। यह समय और प्रसूति का अंतर भी विशेष महत्त्वपूर्ण है। इन अंतरों के होते हुए **राजपूत** नामक एक व्यापक वा प्रधान शैली की स्थापना नहीं टिक सकती।

'राजस्थानी शैली' नाम भी हम बहुत सार्थक नहीं समझते। इससे अच्छा नाम **गुजरात शैली** हो सकता है। यदि गुजरात

अपभ्रंश शैली के संबंध में अपना आग्रह छोड़ दे तो 'राजस्थानी' नाम को त्यागकर तुरंत इस शैली का नाम **गुजरात शैली** कर देना चाहिए क्योंकि यह उसी क्षेत्र की देन है और एक ऐसी देन है जिसका उसे ही नहीं, समूचे देश को अभिमान होना चाहिए।

राजस्थानी शैली के आरंभिक इतिहास के संबंध में यहाँ अब और कहने को नहीं रहा है; अतः अब हम १५वीं शती एवं उसके बादवाले उन व्यक्तियों तथा घटनाओं की ओर प्रवृत्त होंगे जिनका स्थायी और व्यापक प्रभाव आगामी शतियों में, केवल यहाँ की चित्रकला पर ही नहीं, समूची संस्कृति पर पड़ा।

छठा अध्याय

§ ३१. **मुगल साम्राज्य का आरंभ**—जिन दिनों इधर **राजस्थानी शैली** का जन्म हो रहा था, उन दिनों—१४८३ ई० की बात है—भारत में मुगल साम्राज्य के संस्थापक, अकबर के पितामह बाबर का जन्म हुआ। वह महान् विजेता और संहारक तैमूर की पाँचवीं पीढ़ी में था। बाबर की माता वा कोई मातामही चंगेज खान के वंश की, अर्थात् मंगोल थी। इसी से यह वंश मुगल(=मंगोल) कहलाया, अन्यथा यह तूरानी (तुर्क) था। मुगल बादशाहों को जैसे अपनी तैमूरिया (तुर्क) परंपरा का गर्व था, वैसे ही अपनी चंगेजखानी (मंगोल) परंपरा का भी अभिमान था और वे दोनों कुलों की रीति बड़े गौरव से बरतते थे।

बाबर के जन्म के जमाने में तैमूर-वंशियों के हाथ में तैमूरिया साम्राज्य में से कई छोटे छोटे राज्य भर बच रहे थे। उन्हीं में से आमू-सीर प्रदेश के फरगाना राज्य का शासक उमरशेख बाबर का पिता था। बाबर जब ग्यारह बरस का था तभी एक दुर्घटनावश उमरशेख गत हो गया और उसे राज्यासीन होना

पड़ा। उसी समय से बाबर के जीवन में ज्वार-भाटे आरंभ हुए। अंततः १५१३ वा '१४ ई० में, अपने देश से सदा के लिये बिदा होकर वह काबुल आया और तभी से उसकी दृष्टि भारत पर गड़ी। १५१६ ई० में उसने भारत पर आक्रमण किया। इन दिनों भारत की आंतरिक दशा बड़ी बुरी हो रही थी, फलतः कई गाढ़ी लड़ाइयों के बाद १५२७ ई० में विजय-लक्ष्मी ने निश्चित रूप से भारत का राजमुकुट बाबर को पहना दिया।

§ ३२. **मुगलों में संस्कृति और कला-प्रेम**—तैमूरिया वंश आरंभ से संस्कारी और गुणियों का आश्रयदाता था। तैमूर का पुत्र शाहरुख कवि था और उसके दरबार में चित्रकार भी थे, जिनमें से एक शाहरुख के राजदूतों के संग चीन तक गया था। १५वीं शती के अंत में इस वंश के सुलतान हुसैन मिर्जा ने अपने समय के अच्छे से अच्छे चित्रकारों को अपने यहाँ रखा था जिनमें बिहजाद भी था जो ईरानी शैली का सर्वप्रसिद्ध चित्रकार है। इसी भाँति एक अन्य तैमूरिया, बैसुंगर मिर्जा के दरबार में इसी १५वीं शती में मीरअली रहता था जो फारसी लिपि के नस्तालीक नामक भेद का सर्वश्रेष्ठ लिपिकर था।

बाबर में भी यह कुलगत कला-प्रवृत्ति पूर्ण रूप से विद्यमान थी। कवि होने के सिवा वह ऐसा प्रौढ़ गद्य-लेखक था कि उसका आत्मचरित, जो तुर्की भाषा में है, विश्व-साहित्य की चीज

है। इस रामकहानी में उसने घटनाओं के बहुत विशद और सजीव वर्णन तो किए ही हैं, मनुष्यों के नख-शिख, प्रकृति तथा स्थावर-जंगम जगत् के ऐसे सच्चे और सजीव शब्द-चित्र खींचे हैं कि मानना पड़ता है कि वह पहुँचा हुआ मुसव्विर था, भले ही उसने रंग और तूलिका का प्रयोग कभी न किया हो। बिहजाद के चित्रों की उसने मार्मिक समीक्षा की है, अर्थात् वह कृती ही नहीं, कला का आलोचक भी था।

हुमायूँ ने भी यह पारंपरीण दाय पाया था। यह कहना कि उसका कला-प्रेम, विपत्ति के दिनों में उसके ईरान-प्रवास का फल था जहाँ शाहतहमास्प ने उसे इस ओर प्रवृत्त किया था, गलत है। ईरान में तो उसे निरादर के सिवा कुछ और, बहुत थोड़ा ही नसीब हुआ था। आरंभ ही से वह अपनी कल्पना द्वारा अनेक कलात्मक चीजें बनवाता था जिनमें चित्रकारी को भी स्थान मिलता था। उसका चित्र-प्रेम इसी से मालूम होता है कि अपनी युद्ध-यात्राओं तक में वह अपने संग सचित्र पुस्तकें रखता था एवं जब वह शेरशाह से हारकर मारवाड़ और सिंध के दुष्पार मार्ग से ईरान की ओर जा रहा था तो उसके गाढ़े के साथियों में चित्रकार भी थे। इसी यात्रा में एक दिन वह अपने डेरे में नहाने का कपड़ा पहने बैठा था। कहीं से उड़ता हुआ एक पखेरू वहाँ आ गया। बादशाह ने उसे पकड़कर कतरनी से उसके

पर काटे और अपने चित्रकार से उसकी तसवीर बनवाकर छोड़ दिया।

हुमायूँ ने अपनी विपत्ति का प्रायः एक बरस ईरान में बिताया। १५४४ ई० के अंत में जब वह वहाँ से काबुल लौट रहा था तो रास्ते में, तब्रेज में, शीराज-निवासी ख्वाजा अब्दुस्समद नामक कुशल चित्रकार और लिपिकर, जिसकी उपाधि शेषोक्त कला के कारण शीरींकलम थी, उससे मिला। चित्रकला-प्रेमी बादशाह ने ख्वाजा को अपने साथ चलने के लिये कहा किंतु वह न चल सका। मगर १५४६ ई० में, जब बादशाह काबुल में पैर जमा चुका तो ख्वाजा तथा मीर सैयदअली नामक चित्रकार, जो 'जुदाई' उपनाम से कविता भी करता था, उसकी सेवा में आ गया।

किंतु हुमायूँ के समय तक मुगल दरबार की कोई अपनी चित्रकला न थी। उसमें **ईरानी शैली** के अंतर्गत हिरात की कलम को ही आश्रय मिला था। अकबर के समय से इस स्थिति में परिवर्तन हुआ। उस परिवर्तन पर विचार करने के लिये यह आवश्यक है कि उस समय तक की ईरान तथा अन्य मुसलिम देशों की चित्रकारी के इतिहास और विशेषताओं का सिंहावलोकन कर लिया जाय क्योंकि तभी अकबर के आश्रय में जिस चित्रकला का विकास हुआ उसका ठीक ठीक विवेचन किया जा सकता है।

§ २३. मुसलिम देशों की १६वीं शती के आरंभ तक की कला—

क—इराक—हजरत मूसा के उपदेशों का अनुसरण करते हुए हजरत मुहम्मद ने, निष्प्राण वस्तुओं—वृक्ष, फूल और मकानों के चित्र छोड़कर, अन्य चित्रों का आलेखन निषिद्ध ठहराया। किंतु ८वीं शती का अंत होते होते खलीफों में यह निषेध टूटने लगा। उन दिनों के बगदाद के खलीफा विशाल प्रासाद बनवाने लगे जिनमें मनुष्यों की आकृतियाँ बनी मिलती हैं। ११वीं शती से जनता भी प्राणियों के चित्र बनाने लगी।

इस बीच अरबी में धार्मिक साहित्य के सिवा ऐसा साहित्य भी तैयार हो चला था जिसके प्रति पक्के मुसलिम उपेक्षा वा कम से कम उदासीनता रखते थे। ऐसी पुस्तकों में विज्ञान, गणित, खगोल, चिकित्सा आदि के साथ सर्वोपरि अपने पंचतंत्र का अनुवाद भी है। इस पुस्तक के एशिया एवं योरप के अधिकांश में फैलने की कथा इसकी कहानियों से कम रोचक नहीं। पहले पहल, ६ठी शती में ईरान के सम्राट् खुसरो अनुशीरवाँ के राज्यकाल में पंचतंत्र संस्कृत से पहलवी (उस समय की ईरानी) में अनूदित हुआ; ८वीं शती के उत्तरार्ध में इस पहलवी का अरबी अनुवाद हुआ। संभवतः पहले ऐसी ही लोकप्रिय पुस्तकों का चित्रण आरंभ हुआ। इनमें से वैज्ञानिक पुस्तकों का चित्रण अध्येताओं

के सुविधार्थ किया जाता था। चित्रकला का निदर्शन कथा-वाङ्-मय के चित्रों में ही होता था।

११वीं से १३वीं शती तक के अरबी ग्रंथोंवाले चित्र शाम और मेसोपटामिया शैली के हैं जो ईसाई धर्म से संबंधित थी और इस-लाम के जन्म के बहुत पहले से चली आती थी। यह शैली निर्विवाद रूप से अपर-भारत की चित्रकला से उत्पन्न थी। जो विद्वान् इस हद तक जाने को तैयार नहीं वे भी इतना तो मानते ही हैं कि, उससे पूर्णतः प्रभावित थी। यह सिद्ध हो चुका है कि देवी मरियम और शिशु ईसा का चित्र बौद्ध हारीती के चित्र से उत्पन्न हुआ है। इसलाम के उदय से पूर्व बौद्ध संप्रदाय एशिया का मुख्य धर्म था, जिसका विस्तार जापान से लघु एशिया तक था। जरथुस्त्र संप्रदाय को एक कोने में दबाकर, वह ईरान के भी बहुत बड़े अंश में फैला हुआ था। अस्तु, उक्त भारतीय प्रभाव हम इन खलीफा-कालीन बगदाद क्षेत्र के चित्रों पर भी पाते हैं। यों तो प्रायः इन सभी चित्रों में यह प्रभाव विद्यमान है किंतु कुछ उदा-हरण तो ऐसे हैं जिनके संबंध में कोई ननु-नच चल ही नहीं सकता। एकाध में की आकृतियाँ तो मुद्रा और आसन में बुद्ध के बहुत समीप हैं। इस काल के काहरावाले चित्र भी ऐसे ही हैं।

ख—**ईरान**—इस्लामी प्रचार के पीछे पीछे उक्त शैली ईरान में भी पहुँची। किंतु थोड़े ही दिनों बाद वहाँ मंगोल प्रभाव की लहर

आई और ईरानी चित्रकला में चीनीपन व्याप उठा। इस चीनी-पन में भी भारतीय प्रभाव था जिसका इंगित हम ऊपर कई स्थानों पर कर चुके हैं (पृ० ५८, ८८)। किंतु यह प्रभाव स्वल्प था। हाँ, महमूद गजनवी के आदेश से जो काम बने वा जिन पर उसकी दरबारी संस्कृति का प्रभाव है उनमें भारतीय **अपभ्रंश शैली** का प्रभाव कुछ विशेष रूप से पाया जाता है, क्योंकि उस सम्राट् के समाज में भारतीय कलाकार भी थे।

ईरान में उक्त मंगोल एवं अंशतः मानी का प्रभाव (पृ० ६१) चल ही रहा था कि १३वीं शती के उत्तरार्ध में मध्य एशिया में तैमूर का उदय हुआ। बहुत बड़ा संहारक होते हुए भी वह ऐसा कलाप्रेमी था कि जहाँ पर कत्ल-आम कराता था वहाँ के भी चुने हुए कारीगरों को अपनी राज-धानी समरकंद में भेज देता था। १४०५ ई० में तैमूर की मृत्यु हुई। उसके पुत्र शाहरुख ने अपने साम्राज्य के सबसे भीतरी अंश एवं ईरान के पूरबी भागवाले हिरात नगर को राजधानी बनाया। उसकी कलाप्रियता के कारण इसी हिरात में ईरानी चित्रकला की एक नई शैली का जन्म हुआ जिसे आज-कल **हिरात शैली** कहते हैं और पुराने लोग **हिरात की कलम**। भौमिक स्थिति एवं आश्रयदाता के अभिजन के कारण स्वभावतः इस शैली पर अपर-भारत की चित्रकला का काफी प्रभाव था।

इस शैली में ईरानी कला का जितना प्रकर्ष हुआ उतना तब तक की किसी शैली में नहीं हुआ था।

१५वीं शती के उत्तरार्ध में उस्ताद बिहजाद इसी शैली का सबसे बड़ा चित्रकार हुआ। वह हिरात में ही तैमूर के वंशज हुसैन मिर्जा के दरबार में था, सो ऊपर कहा जा चुका है। १६वीं शती के आरंभ में इस समाश्रयदाता का अंत हो जाने पर ईरान के सफवी वंश का पहला सम्राट् शाह इस्माईल बिहजाद को तब्रेज ले गया। इस प्रकार बिहजाद शैली का प्रचार ठेठ ईरान में भी हुआ—और ऐसा हुआ कि उसके पहले जितने बड़े बड़े चित्रकार हुए थे, लोग उनका नाम तक भूल गए एवं बिहजाद एक स्वर से **ईरानी शैली** का सर्वश्रेष्ठ चित्रकार माना गया तथा आज तक माना जा रहा है। बिहजाद की इस श्रेष्ठता का मुख्य कारण रंगों और **लिखाई** की उत्तमता के साथ साथ यह भी है कि उसने ईरानी कला में जो भी विजातीय प्रभाव थे, उन सबों का बड़ा सुंदर समन्वय करके उसे एकरूप कर दिया।

§ ३४. **ईरानी चित्रकला की विशेषताएँ**—कई बार और कई ओर से भारतीय प्रभाव पड़ने पर भी ईरानी कला का एक स्वतंत्र और विभिन्न निजस्व है जो मुख्यतः चीन से संबंधित है। उसकी प्रमुख विशेषताएँ ये हैं—

रेखाओं में गति होते हुए भी भारतीय गुलाई नहीं है; कोण हैं। इसी प्रकार उसमें डौल भी नहीं है; चित्रकार, जहाँ जो जो रंग अपेक्षित हैं उन्हें लगा तो जाता है, किंतु उनमें साया और उँजाला (उज्जोतन) लगाकर—अंकित वस्तुओं की निचाई-उँचाई नहीं दिखाता। परिणाम यह होता है कि रंगीन चित्र भी रंग भरा हुआ सपाट रेखा-चित्र मात्र रह जाता है। ईरानी चित्र का अन्य निजस्व आलंकारिकता है, उसके सभी आलेखन आलंकारिक होते हैं। अभिव्यक्ति की अपेक्षा-कृत बहुत कमी है। चित्रकार आलेख्य मात्र को नकाशी मानता है और नदी, पर्वत, वृक्ष से लेकर पशु, पक्षी एवं मनुष्य तक का आलंकारिक अंकन करता है; नकाशी के रूप में बनाता है। उसकी लिखी स्त्री ललित लतिका और पुरुष सरो का वृक्ष है। इस आलंकारि-कता के तीन कारण हो सकते हैं—(१) ईरानियों का उद्यान-प्रेम, (२) इस्लाम के प्रभाव से आलंकारिक कला की प्रमुखता, एवं (३) ऐसे ही चित्रों का बुना-वट, सुईकारी और इमारती तथा लकड़ी की रँगाई आदि कौशलों में, जिनकी विशेषता तरहदारी ही है, प्रयुक्त होना। ईरानी कला की और विशेषता में सुबुकपन, नाजुकपन तथा विरलता है। फलतः उसमें प्रकांडता, उदात्तता और घनता (भीड़भाड़) का अभाव रहता है और इन्हीं सब विशेषताओं का परिणाम यह होता है

कि जब ईरानी चित्रकार किसी घटना वा कथानक को अंकित करता है तो उसका यह उद्देश्य गौण हो जाता है और दर्शक के सामने उसका **संयोजन** नकाशी की एक तरह के रूप में उपस्थित होता है, जिसमें गति होने पर भी जीवन का अभाव रहता है।

§ ३५. **अकबर और उसकी समाश्रित आरंभिक मुगल शैली**—काबुल में राज्य जमाकर, १५५५ ई० में किस प्रकार हुमायूँ ने पुनः भारतवर्ष को हस्तगत किया और छः महीने राज्य करके चल बसा तथा उसका तेरह बरस का बेटा अकबर गद्दी पर बैठा (१५५६ ई०), यह सब कथा यहाँ दुहराने की आवश्यकता नहीं। राजनीतिक इतिहास द्वारा वह प्राय: सबको विदित है।

अकबर एक 'विभूतिमत्सत्त्व' था। उसमें जिस महापुरुषता का उत्तरोत्तर विकास हुआ उसका मूल मंत्र 'सुलह कुल' अर्थात् 'सबसे मेल' था; दूसरे शब्दों में उसका प्रत्येक कार्य समन्वय-बुद्धि की प्रेरणा से संपादित होता था। फलत: उसमें भारतवर्ष की संस्कृति के साथ ईरान-मध्य एशिया की संस्कृति को मिला देने की लोकोत्तर प्रतिभा और क्षमता थी। इस मेलन में भारतीय संस्कृति की ही प्रमुखता रहती थी क्योंकि, सूक्ष्मदर्शी अकबर को भारतीय संस्कृति ने अपना अनुगत बना लिया था। सो उसने यहाँ की संस्कृति को देशकाल के अनुकूल बनाने के लिये ही उसमें अपेक्षित परिवर्तन और मेलन भर किए थे। सीकरी का स्थापत्य,

तानसेन का संगीत, दीनइलाही, अकबर का पहनावा, उसका सामाजिक जीवन, आचार-विचार, रहन-सहन, सारांश यह कि उसकी विचार और कार्य-पद्धति मात्र उसकी उक्त मनोवृत्ति की मूर्त उदाहरण है। इसी प्रकार उसकी आश्रित चित्रकला भी उसकी मनोवृत्ति की प्रतीक है, जैसा कि हम आगे देखेंगे।

अकबर ने किशोरावस्था में चित्रकारी का अभ्यास भी किया था। इस संबंध में जहाँगीर ने अपने आत्मचरित में एक मनोरंजक घटना लिखी है—अकबर के सिंहासनासीन होने पर जब हेमूँ ने विद्रोह किया और अंततः पकड़ा गया तो खानखाना के पिता बैरमखाँ ने, जो अकबर का अभिभावक था, प्रार्थना की कि हजरत इस काफिर को मारकर गिजा (धर्मयुद्ध) के पुण्यभागी हों। × × आपने फरमाया कि मैं तो इसे पहले ही टुकड़े टुकड़े कर चुका। काबुल में जब मैं ख्वाजा अब्दुस्समद शीरींकलम से चित्रकारी सीखता था तो एक दिन मेरी कलम से एक ऐसी तसवीर निकली जिसके अंग प्रत्यंग छिन्न भिन्न थे। एक पार्श्ववर्ती ने पूछा कि यह किसकी सूरत है तो मेरे मुँह से निकल पड़ा—हेमूँ की।

सम्राट् होने के कुछ समय बाद ही, प्रायः १५६० ई० से उसने चित्रकला के प्रति अपने रक्तगत प्रेम से प्रेरित होकर चित्र बनवाना आरंभ कर दिया जिसका क्रम उसके जीवन भर चालू रहा। इस

संबंध में अपनी ओर से कुछ न कहकर, अबुल्फज्ल ने आईन-अकबरी में जो कुछ कहा है उसका सारांश देना हम अधिक उपयुक्त समझते हैं क्योंकि प्रामाणिकता के सिवा उससे कई प्रश्नों पर प्रकाश भी पड़ेगा।

क—**आईन में उल्लेख**—आईन के आरंभिक अध्यायों में से एक सुलिपि पर है। उसी के अंतर्गत चित्रकला का विषय भी है, जिसका सारांश इस प्रकार है—

> किशोरावस्था से ही श्रीमान् की अभिरुचि चित्र-कला की ओर रही है और वे सब तरह से उसे प्रोत्साहित करते हैं। चित्रकला को वे अध्ययन एवं मनोरंजन का हेतु मानते हैं। उनके इस पृष्ठपोषण से यह कला उन्नत हो रही है और अनेक चित्रकारों ने प्रसिद्धि प्राप्त की है। चित्रशाला के दरोगे प्रति सप्ताह समस्त चित्रकारों के काम श्रीमान् के सम्मुख उपस्थित करते हैं जो काम की उत्तमता के अनुसार कारीगरों को इनाम देते हैं वा उनका वेतन बढ़ाते हैं। चित्रकारी की सामग्री में बहुत कुछ उन्नति हुई है एवं रंग बनाने का तरीका विशेष उन्नत हुआ है जिसके कारण अब चित्रों की अभूतपूर्व तैयारी होने लगी है। अब ऐसे ऐसे उत्कृष्ट चित्रकार तैयार हो गए हैं कि इनके चित्र बिहजाद और यूरप के चित्रकारों से टक्कर लेते हैं। इन उत्तम चित्रकारों की संख्या सौ से ऊपर है और जो कारीगरी में

पूरे वा मध्यम श्रेणी के हैं उनकी संख्या तो बहुत बड़ी है।

कलम को बारीकी, तैयारी, पोढ़ापन आदि जो अब के चित्रों में पाया जाता है वह अप्रतिम है, यहाँ तक कि निष्प्राण वस्तुओं में भी जीवन जान पड़ता है।

हिंदू चित्रकारों के चित्र हम लोगों (मुस्लिम) की भावना से कहीं ऊँचे होते हैं। सारे संसार में ऐसे बहुत कम कलाकार हैं जो उनके समकक्ष हों।

प्रमुख चित्रकारों में निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं --

१—तब्रेज-निवासी मीर सैयदअली।

२—शीराज-निवासी ख्वाजा अब्दुस्समद। यद्यपि ये चित्रकारी तो पहले ही से जानते थे किंतु जब से इन पर श्रीमान् की कृपादृष्टि हुई है, यह कला की बाह्य आकृति से उसकी अंतरात्मा की ओर प्रवृत्त हुए हैं। ख्वाजा के शिष्य भी उस्ताद हो गए हैं।

३—दसवंत (संभवतः जसवंत)—यह जाति के कहार थे और इन्होंने अपनी सारी जिंदगी चित्रकारी की उपासना में लगा दी। पहले कला के प्रेम-वश दीवारों तक पर लिखाई करते थे। एक दिन श्रीमान् की दृष्टि इन पर पड़ी और इनकी योग्यता को देखकर श्रीमान् ने इन्हें ख्वाजा के सपुर्द किया। शीघ्र ही ये अन्य सब चित्रकारों के आगे निकल गए और इस समय के सर्व-श्रेष्ठ उस्ताद हुए किंतु दुर्भाग्यवश इन्हें उन्माद रोग हो

गया जिसके प्रकोप में इन्होंने आत्मघात कर लिया[1]। इनकी अंकित कतिपय कृतियाँ हैं।

४—बसावन—पृष्ठिका बनाने, आकृति के आलेखन, बँटे हुए रंग लगाने, शबीह लगाने[2] तथा चित्रकारी के और कई अंगों में यह सर्वोत्तम हैं; यहाँ तक कि कई आलोचक इन्हें दसवंत से भी अच्छा समझते हैं।

निम्नलिखित चित्रकारों ने भी प्रसिद्धि प्राप्त की है—

१—केशो, २—लाल, ३—मुकुंद, ४—मिस्कीन, ५—फर्रुख कुलमाक, ६—माधो, ७—जगन, ८—महेश, ९—खेमकरन, १०—तारा, ११—साँवला, १२—हरबंस तथा १३—राम।

धर्म के कट्टर अनुयायी, जो धर्मग्रंथ के शब्दों पर ही ध्यान देते हैं, इस कला के विरुद्ध हैं किंतु अब उनकी आँखें भी खुलने लगी हैं। एक दिन श्रीमान् ने, जब वे अंतरंग मित्रों के साथ बैठे थे, कहा कि 'ऐसे कितने

१—यह दुर्घटना १५८४ ई० की है।

२—**शबीह** के संग की 'लगाना' क्रिया, जो आज भी चित्रकारी की भाषा में चलती है, विद्ध चित्र की (§ २४ क) तदर्थीय, फलतः प्राचीन परंपरा की विद्यमानता-सूचक है। ऐसे और शब्द भी हैं, जैसे—खुलाई = उन्मीलन। मिलाइए—उन्मीलितं तूलिकयेव चित्रम्—कुमारसंभव।

ही व्यक्ति हैं जो चित्रकला से नफरत करते हैं किंतु ऐसे लोगों को मैं पसंद नहीं करता। मुझे तो ऐसा लगता है कि ईश्वर को पहचानने के लिये चित्रकार का एक अनोखा मार्ग है; जब वह किसी सजीव वस्तु की आकृति बनाता है और एक के बाद एक अंग-प्रत्यंग लिखता जाता है, किंतु अंततः उनमें जान नहीं डाल सकता तो हठात् उसका ध्यान ईश्वर की ओर जाता है जो जीवन का एकमात्र दाता है और इस प्रकार उसके ज्ञान की वृद्धि होती है'।

चित्रकारी को प्रोत्साहन मिलने के कारण अनेक उत्कृष्ट कृतियाँ तैयार हुईं। फारसी की गद्य और पद्य रचनाएँ चित्रित की गईं। इस प्रकार चित्रों की संख्या बहुत बढ़ गई। हम्जा के किस्से के चित्र बारह जिल्दों में तैयार हुए। चतुर चितेरों ने उसमें के चौदह सौ प्रसंगों के अद्भुत चित्र तैयार किए। चंगेजनामा, जफरनामा, यह किताब (आईन अकबरी), रज्मनामा (महाभारत), रामायण, नल-दमन (नल-दमयंती), कलीला-दमना (पंचतंत्र), अयार दानिश (पंचतंत्र का दूसरा अनुवाद) इत्यादि भी चित्रित किए गए।

श्रीमान् ने स्वयं अपनी शबीह लगवाई और आज्ञा दी कि साम्राज्य के सब उमराओं की शबीह तैयार की जाय। इस प्रकार एक प्रकांड चित्राधार प्रस्तुत हुआ।

अबुल्फज़्ल के इस विवरण में अकबर-कालीन **मुगल शैली** का प्रायः समूचा इतिहास निहित है। अब हमें केवल उन प्रश्नों पर विचार करना रह जाता है जिनका स्पष्टीकरण उक्त विवरण में नहीं हुआ है। इनमें पहला, इस शैली के उद्गम का है, क्योंकि यह ईरानी कला के भीतर नहीं आती।

ख—**अकबर शैली का उद्गम**—विषयों के हिसाब से इस शैली के चित्र चार विभागों में विभक्त होते हैं—(१) अभारतीय कथाओं के चित्र, जैसे—किस्सा अमीर हम्जा, शाहनामा आदि (२) भारतीय कथाओं के चित्र, जैसे—रामायण, महाभारत, नल-दमयंती आदि (३) ऐतिहासिक चित्र, जैसे—तवारीखे-खानदाने तैमूरिया (पृ० १३१,१३६) अकबरनामा (पृ० १३२-३३) आदि तथा (४) व्यक्ति-चित्र। इन चारों विभागों के चित्रों की शैली में एक तो व्यापक समानता है दूसरे इनमें **हिरात शैली** की कुछ विशेषता होते हुए भी इतना निजस्व है कि, जिसे चित्रों की जरा भी निगाह है वह तुरंत कह देगा कि **हिरात शैली** से इनका दूर का संबंध है। यह निजस्व स्वभू नहीं बल्कि भारतीय **कश्मीर शैली** का है जैसा कि हम अभी देखेंगे।

ख-१—**हम्जा चित्रावली और उसका निर्माण काल (१५६०-६१—१५७५ ई०)**—अकबर के तैयार कराए चित्रों में समयानुक्रम से सर्वप्रथम किस्सा अमीर हम्जा के चित्र हैं; अतः

उक्त विमर्ष के लिये उन्हीं का विश्लेषण उचित होगा, क्योंकि इस शैली की आद्यावस्था में निर्मित होने के कारण उनमें इसके मूलतत्त्व तथा 'विजातीय द्रव्य' पृथक् पृथक् दीख पड़ते हैं। आगे तो वे मिल-जुलकर एकरस हो जाते हैं।

परंतु पहले हम्जा चित्रावली का समय निर्णय कर लेना चाहिए; क्योंकि भारतीय चित्रकारी के अधिकांश ऐतिहासिकों ने एकस्वर से इसका आरंभ हुमायूँ के पिछले दिनों में माना है। इस चित्रावली के विषय में अभी तक चार उल्लेख मिले हैं—

१—१८वीं शती के मआसिरुल् उम्रा में; जिसका सारांश इस प्रकार है—अकबर किस्सा अमीर हम्जा का बड़ा रसिक था। यहाँ तक कि वह इसके दास्तानों को, कहानी कहनेवालों की भाँति, महलों में सुनाया करता था। उसने इसकी आश्चर्य घटनाओं को चित्रित भी कराया था। पचास चित्रकारों ने पहले तो मीर सैयद अली 'जुदाई' के, फिर ख्वाजा अबदुस्समद के निरीक्षण में यह कार्य किया था।

२—प्रायः ये ही बातें १६वीं शती के अंतवाले सुप्रसिद्ध फरिश्ता में हैं। अतः उन्हें दुहराना अनावश्यक है।

३—आईन-अकबरी में; जिसका अनुवाद ऊपर दिया जा चुका है।

इन तीन उल्लेखों के सिवा अब एक और उल्लेख मिला है। अकबर के दरबार में अब्दुलकादिर बदायूनी (बदायूँ-निवासी) नामक फारसी-अरबी आदि का बड़ा पंडित था। वह संस्कृतज्ञ भी था, अतः बादशाह ने जो भी संस्कृत के अनुवाद कराए, या तो उसने किए या उनमें उसका हाथ रहा। उसने एक इतिहास भी लिखा जिसमें विशेषतः उसके अकबर-संबंधी संस्मरण हैं। इस अंशवाली बातें निजी जानकारी की होने के सिवा बड़ी सच्ची और खरी हैं; इसी में—

४—बदायूनी लिखता है कि इस वर्ष (६६० हि० =१५८२ ई०) की घटनाओं में से एक यह भी है कि अकबर ने भारतवर्ष की प्रधान पुस्तक महाभारत के अनुवाद की आज्ञा दी। इसका कारण यह था कि बादशाह ने शाहनामा तथा किस्सा अमीर हम्जा को सत्रह जिल्दों में, पंद्रह वर्ष के समय में लिखवाया था और उनके चित्रों में बड़ा रुपया लगा था। विचार यह हुआ कि ये सब कवियों की उपज हैं। पर भारतीय पुस्तकें सत्य हैं—फिर क्यों न हम फारसी में इनका अनुवाद करावें ? (सारांश)।

इन उल्लेखों से यह तो साफ हो हो जाता है कि हम्जा चित्रावली अकबर ने अपने लिये, अपने राज्य-काल में तैयार कराई थी। साथ ही बदायूनी के उल्लेख से इस कृति के काल-निर्णय पर भी विशेष प्रकाश पड़ता है। एक तो वह पंद्रह वर्ष का समय देता

है। दूसरे इंगित करता है कि महाभारत के अनुवादारंभ से कुछ ही वर्ष पहले यह तैयार हुई थी। इसी प्रसंग में वह यह भी बताता है कि हम्जा चित्रावली के तैयार हो जाने के बाद अकबर ने दो और कहानियों को सुना और लिखवाया था।

अबुल्फज्ल के संसर्ग से १५७५ ई० के बाद अकबर के विचारों में विशेष क्रांति और गंभीरता प्रारंभ हो गई थी। अब जो ग्रंथ तैयार कराए गए उनका एक दूसरा क्षेत्र था, जैसा कि हम अभी बदायूनी से सुन चुके हैं। अतएव हम्जा चित्रावली की पूर्ति का समय १५७५ ई० के पहले रखना चाहिए, क्योंकि यदि वह इस नए युग के बाद पूरी हुई होती तो उसके बाद अकबर का ध्यान उक्त दो और कहानियों के सुनने तथा लिखाने की ओर न गया होता। फलतः हम इस चित्रावली की पूर्ति का समय १५७४—७५ ई० रखते हैं, जो उसके आरंभ काल के विषय में बड़ा अनुकूल परिणाम देता है, फलतः स्वीकार्य है। १५७५ ई० के प्रारंभिक महीनों से पीछे मुड़ने पर १५६०-६१ ई० तक पंद्रह चांद्र वर्ष (जिसके अनुसार बदायूनी की गिनती है) बड़ी कुशादगी से पूरे हो जाते हैं। ये वे वर्ष हैं जब अकबर अपनी धाय माहमअंगा और माता हमीदाबानू बेगम मरियम जमानी से प्रभावित होकर बैरमखाँ के बंधन को तोड़ डालता है तथा अगले चार-पाँच वर्ष उन्हीं के हाथों में रहता है; अर्थात् १५६० ई० में, छुटकारे की साँस लेता हुआ छुटपन के उस

वातावरण में पहुँच जाता है, जिसमें वह अपनी प्रिय हम्जा-कहानी सुनकर बढ़ा था। फलत: १५६०-६१ ई० सबसे अनुकूल समय है जब अकबर को हम्जा-चित्रावली बनवाने का उद्दीपन हुआ हो।

ख–२—**इस चित्रावली का निजस्व**—हिरात शैली की कुछ बातों को छोड़कर, इन चित्रों की अधिकांश बातों में अपना निजस्व है। यथा—

> (१) ये आलंकारिक चित्र न होकर घटना-चित्र हैं; (२) इनमें विरलता नहीं भीड़ भाड़ है, एवं प्रकांडता तथा उदात्तता है; (३) इनमें **संयोजन** का एक अपना प्रकार है; (४) इनमें की रेखाओं में गुलाई है और **लिखाई** में डौल; (५) इनमें **एकचश्म** चेहरों की अधिकता है जिनकी आँखें पटोलाक्ष (देखिए पृ० ७०) वा मीनाक्ष हैं (जिनकी चर्चा आगे होगी) तथा मानव आकृतियों का आलेखन स्फूर्तिमय है, उनके पहनावे एवं भूषा हिरात से भिन्न हैं; (६) इसके जल, स्थल, पहाड़, पेड़-पालो, बादल, पशु-पक्षी तथा दानवों का आलेखन अलग है, एवं वृक्षों में केले, वट, पीपल तथा आम और पशु-पक्षी में हाथी, मोर आदि भी हैं, अथच (७) इनमें हाथ-पाँव की मुद्राएँ पाई जाती हैं तथा वस्त्रों में विशेष प्रकार की शिकन और फहरान।

ये निजस्व ऐसे हैं कि इनकी परंपरा भारतीय चित्रकला ही में पाई जा सकती है। किंतु इस मालिका के एक चित्र का एक

अंश इन सब निजस्वों से कहीं बढ़कर है। इसमें कुछ देवताओं की छवियाँ अंकित हैं। वे **पाल शैली** की अति निकट परंपरा में हैं। ऐसी परंपरा **कश्मीर शैली** के अतिरिक्त कहाँ बची थी?

विधान की दृष्टि से भी ये चित्र भारतीय हैं, क्योंकि एक तो परिमाण में ये सवा दो फुट से अधिक लंबे और प्रायः दो फुट चौड़े हैं, दूसरे ये सूती कपड़े पर बने हैं, अर्थात् ये पूर्णरूप से **चित्रपट** हैं। ईरानी चित्र न तो इतने बड़े होते हैं न सूती कपड़े पर बनते हैं।

निजस्व के इस विश्लेषण का यह परिणाम प्राप्त होता है कि इन चित्रपटों में कुछ अंश तो अवश्य **ईरानी शैली** का है, किंतु अधिकांश भारतीय है, जो मुख्यतः **कश्मीर** और अल्पतः **राजस्थानी शैली** का है। ऊपर हमने जितनी विशेषताएँ गिनाई हैं प्रायः वे सभी **कश्मीर शैली** की हैं और समस्त चित्रों में सर्वत्र पाई जाती हैं। **राजस्थानी शैली** की विशेषताएँ अधिकतर चित्रभर में व्याप्त नहीं उसके भाग विशेष में, इकठौर पाई जाती हैं, सो भी किसी किसी चित्र में (देखिए पृ० १०५)। दूसरे शब्दों में यह अकबर-कालीन **मुगल शैली** आरंभ से ही अनेक अंशों में **कश्मीर शैली** का रूपांतर है जैसा कि हम ऊपर (पृ० ८६) कह चुके हैं।

'आईन' से भी हमारा समर्थन होता है। अबुल्फज्ल की इस उक्ति का और क्या अर्थ हो सकता है?—'हिंदू चित्रकारों के

चित्र हम लोगों की भावना से कहीं ऊँचे होते हैं। सारे संसार में ऐसे बहुत कम कलाकार हैं जो उनके समकक्ष हों'। **राजस्थानी शैली** के लिये तो यह हो नहीं सकती, वह तो अभी बिलकुल आरंभिक अवस्था में थी, जिसमें **अपभ्रंश** की विशेषताएँ छलक रही थीं। दूसरी कोई शैली भारत में थी नहीं। फलतः यह कथन एक मात्र **कश्मीर शैली** के संबंध में हो सकता है जिसके १६वीं शती में अस्तित्व का पता तारानाथ ही नहीं देता, अपितु वह अनुश्रुति भी देती है जो उस्ताद रामप्रसाद के घराने में चली आती है। अकबर शैली से बिलकुल मिलते हुए १६वीं-१७वीं शती के अनेक छिन्न चित्र मिलते हैं जिनका विषय मुख्यतः रामायण, दशावतार तथा कृष्णचरित होता है। इनके पीछे अकसर संस्कृत श्लोक भी रहते हैं। उक्त घरानेवाले इन्हें **कश्मीर कलम** का बताते हैं। **कश्मीर शैली** की सत्ता का एवं अकबरी शैली से उसके संबंध का यह जीवित प्रमाण है; (देखिए § ३७)।

अब इस संबंध में इसके सिवा, कुछ और कहने की आवश्यकता नहीं रह जाती कि अब्दुस्समद के विषय में अबुल्फज्ल के इस कथन की कि—'जब से इन पर श्रीमान् की कृपादृष्टि हुई है, यह कला की बाह्य आकृति के बदले उसके अंतरात्मा की ओर प्रवृत्त हुए हैं', यही ध्वनि हो सकती है कि अकबर ने ख्वाजा से **कश्मीर शैली** ग्रहण कराई थी।

भारतीय चित्रकला के सभी विद्वानों का, चाहे वे कुमारस्वामी की दृष्टिवाले हों, चाहे स्मिथ की दृष्टिवाले, ध्यान इस बात की ओर गया है कि—(१) अकबरी चित्रों का निजस्व ईरानी कला से बिलकुल पृथक् है। स्मिथ ने तो यहाँ तक निरीक्षण किया कि—(२) हम्जा चित्रपटों में वे काले भालू बने हैं जो कश्मीर ही में होते हैं; इसी प्रकार इनके पर्वत भी कश्मीरी पर्वतों के लाक्षणिक आलेखन हैं, अतएव ये चित्रपट वहीं के बने होने चाहिए। किंतु **कश्मीर शैली** की विद्यमानता का पता न रहने के कारण वे उक्त दोनों बातों का सामंजस्य न कर पाए।

हम्जा चित्रावली के चौदह सौ चित्रों में से अब कुछ ऊपर एक सौ चित्रों का पता है, जिनमें से गिनती का एक हाल ही में भारत कला-भवन को प्राप्त हुआ है; शेष सब के सब विदेशों में हैं।

हम्जा चित्रों के बादवाले अकबरी चित्रों में, उनके दोनों तत्त्व, ईरानी कला का कनिष्ठांश तथा भारतीय कला का मुख्यांश, एक-दिल हो जाते हैं, जिनके नमूने मुख्यतः ग्रंथ-चित्रों से प्राप्त हैं। अकबर ने जो शबीह तैयार करवाई थीं उनमें की बहुत ही कम मिली हैं (फलक—१५)। जब कि मूलतः उनकी संख्या हजारों रही होगी, अब सारे संसार में उनके सौ से अधिक उदाहरण नहीं रह गए हैं। कालस्य कुटिला गतिः !

अकबर के संप्रदायवाले उसके चित्र मढ़ाकर गले में पहनते भी थे। ऐसे चित्रों का भी कोई नमूना अब तक नहीं मिला। यह प्रथा औरंगजेब के समय तक विद्यमान थी।

ख—३—**अकबर कालीन चित्रित ग्रंथ**—अकबर कालीन कतिपय चित्रित ग्रंथ अभी तक बचे हैं। इनमें से कुछ की एकाधिक प्रतियाँ हैं। इसका कारण यह है कि शाही पुस्तकालय आगरे के सिवा दिल्ली और लाहौर में भी रहता था, उपहार के लिये एकाधिक प्रतियाँ तैयार कराई जाती थीं, शाहजादे तथा उमरा (मुख्यत: खानखाना) भी अपने लिये चित्रित ग्रंथ बनवाते थे और पुस्तक-विक्रेता भी ग्राहकों के लिये उनकी प्रतियाँ प्रस्तुत रखते थे। अस्तु, इन प्राप्त पुस्तकों में से कुछ मुख्य की, किंचित् विवरण सहित सूची, उनकी तैयारी के संभवित समयानुक्रम से यहाँ दी जाती है—

(१) तारीखे-खानदाने-तैमूरिया—इसमें तैमूरिया वंश के आरंभ से अकबर शासन के बाईसवें वर्ष (१५७७ ई०) तक का इतिहास है। इसकी सचित्र प्रति खुदाबख्श खाँ प्राच्य पुस्तकालय, पटना में है। यतः इसमें दसवंत की कृति भी है, अत: यह उसकी मृत्यु (१५८४ ई०) से पहले, संभवतः (१५८०-८१ ई०) की बनी है। इस प्रति पर बादशाही मुहरें भी हैं। (२) रज़्मनामा (महाभारत)—यह अनुवाद १५८२ ई० में, एक वर्ष के सतत परिश्रम

और कई दलों के एक संग काम करने से पूरा हुआ और इसकी सचित्र शाही प्रति १५८८ ई० में, तीन जिल्दों में, तैयार हुई। संप्रति यह जैपुर राज्य के पोथीखाने में है। संयोगवश नादिरशाह के आक्रमण से एक वर्ष पूर्व मुहम्मदशाह ने इसे महाराज जयसिंह को दे दिया था जिससे सारे संसार की सचित्र पुस्तकों का यह कौस्तुभ मणि नाश से वा भारत के बाहर चले जाने से बच गया। (३) वाकआत बाबरी (बाबर की आत्मकथा, देखिए पृ० १०६)—तुर्की से इसका फारसी अनुवाद खानखाना ने किया, जिसकी एक प्रति १५८९ ई० में अकबर को भेंट की। स्वभावत: यह प्रति पहली और सचित्र रही होगी। संप्रति इसकी तीन प्रतियाँ ज्ञात हैं–एक ब्रिटिश संग्रहालय, लंदन में, दूसरी खंडित, साउथ केंसिंग्टन संग्रहालय में, तीसरी फ्रांस के लूव्र संग्रहालय में। (४) अकबर-नामा—यह १६०१ ई० में पूरा हुआ। इसकी एक सचित्र प्रति साउथ केंसिंग्टन संग्रहालय में है, जिस पर जहाँगीर का १६०६ ई० का लेख है। यह निश्चित रूप से इसकी प्रथम प्रति है, क्योंकि इसमें सौ से ऊपर चित्र हैं जिनकी तैयारी के लिये कम से कम चार वर्ष का समय चाहिए। अर्थात् यह १६०५ ई० में तैयार हुई होगी। इसी सन् में अकबर का अवसान हुआ; अतः राज्यारोहण पर जहाँगीर ने अपना नाम चढ़ाया। अकबर-नामे की एक चित्रित प्रति लंदन के चेस्टर बेटी के अद्वितीय संग्रह में भी है।

यह है तो उसी काल की, किंतु इसके चित्र के सिंगटनवाली प्रति की श्रेणी के नहीं हैं। संभवतः यह खानखाना वा किसी शाहजादे के लिये तैयार हुई थी।

इनके सिवा अनवार सुहैली[1] की अकबर कालीन कम से कम चार चित्रित प्रतियों का पता है। इनमें से एक महाराज बलरामपुर के यहाँ है जो १६०० ई० में, लाहौर में तैयार हुई थी। दूसरी लंदन के ब्रिटिश संग्रहालय में है। इसके पूर्ण होने का समय १६१० ई० है किंतु इसमें के दो चित्र १६०४ ई० के हैं; अर्थात् पुस्तक का चित्रण अकबर काल में ही प्रारंभ हो गया था। इसमें दस हिंदू और छः मुसलमान गुणियों के आलेखन हैं। तीसरी रामपुर राज्य के पुस्तकालय में और चौथी रॉयल एशिअटिक सोसाइटी, लंदन में है। अनवार सुहैली का एक चित्र भारत-कला-भवन में है जो किसी सचित्र प्रति का ही पन्ना रहा होगा। अब **वसली** पर है। इसका चित्रकार तारा है जो अबुलफज्ल की आईनवाली सूची में आया है। यह प्रति सब प्रतियों से अच्छी, अतः सम्राट् के पुस्तकालय की प्रधान प्रति रही होगी।

१—यह पंचतंत्र का एक अन्य फारसी अनुवाद है जिसे १५वीं-१६वीं शती में, मुल्ला हुसैनवायज अलकाफशी ने अपने आश्रय-दाता शेख अहमदअल-सुहेली के नाम पर किया था। पंचतंत्र का यह रूप फारसी वाङ्मय में सबसे अधिक लोकप्रिय है।

अकबर की आज्ञा से पंचतंत्र का एक फारसी अनुवाद, अबुल्फज्ल ने सीधे संस्कृत से १५८८ ई० में, अयारदानिश नाम से किया। इसके कुछ सचित्र पन्ने इस समय बंबई के एक भारतीय चित्र-व्यापारी के पास विक्रयार्थ हैं।

इनके अतिरिक्त तारीख रशीदी दाराबनामा, खमसा निजामी, बहारिस्ताने जामी तथा रामायण आदि की प्रतियाँ, इँगलैंड, यूरप और अमरीका के निजी वा सार्वजनिक संग्रहों में हैं। इनमें से कुछ पर तो तिथियाँ हैं। बाकी की तिथियाँ निश्चित करने का सीधा मार्ग यह है कि यदि रचना अकबर काल की है तो उसकी चित्रित प्रति उसके समाप्ति-काल से, जो प्रायः आइन, बदायूनी आदि से प्राप्त हो जाता है, चार से सात बरस के भीतर निर्मित होनी चाहिए। यदि ग्रंथ पहले का है तो वेश-भूषा एवं आलेखन शैली, जिसमें अकबरी-काल में ही विकास पाया जाता है, तथा चित्रकारों के नाम से जो प्रायः सब चित्रों में पाए जाते हैं, उसका समय निर्धारित करना चाहिए।

उक्त पोथियों के सिवा अनेक पोथियों के छिन्न पत्र भी मिलते हैं जो संसार भर के निजी और सार्वजनिक भारतीय संग्रहों में फैले हुए हैं। इसी प्रकार का, हरिवंश के फारसी अनुवाद का, जो अकबर ने मुल्ला शीरीं से, संभवतः 'भारत' के अनुवाद के बाद कराया था, एक

सचित्र पन्ना 'भारत कलाभवन' में है (फलक—१४)। इसका समय लग० १६०० ई० है। इसमें यह कथा अंकित है कि आदि-राजा पृथु ने पृथिवी से कहा कि मैं तुझे दुहूँगा, जिसे अस्वीकार करके पृथिवी गाय का रूप लेके भागी और राजा ने उसका पीछा किया। गाय रूपी पृथिवी आकाश में भागी चली जा रही है; धनुष्पाणि पृथु उसका पीछा कर रहा है। नीचे खड़े लोग चिंता और अचरज से देख रहे हैं कि अब क्या होता है। इस चित्र में जैसी गति और सजीवता है, रंगों में वैसी ही तरावट और मलाहियत भी है।

ख-४—**अकबर शैली की विशेषताएँ**—अकबर के पुस्तकालय में चौबीस हजार पुस्तकें थीं। फैजी के देहांत के बाद (१५९५ ई० में) उसके संग्रह से भी चार हजार तीन सौ पुस्तकें शाही पुस्तकालय में आईं। लगभग तीस हजार पुस्तकों के इस विशाल संग्रह में हजारों नहीं तो सैकड़ों चित्रित पुस्तकें अवश्य रही होंगी। अब जो बच रहा है वह महासागर का एक विंदु मात्र है।

इनमें के चित्रों के रंग भी मीने-जैसे दबीज और ओपदार हैं। अबुल्फज्ल की यह उक्ति कि रंगों के संबंध में बहुत उन्नति हुई है, इनके देखने से प्रत्यक्ष हो जाती है। इनमें तीन श्रेणियों के रंग का प्रयोग पाया जाता है (१) चुहचुहाते वा दमकते हुए जिसमें मुख्यत: क—सिंदूर, प्योड़ी (पीला) और लाजवर्दी (नील)

तथा ख—हिंगुल, गुलाली और जंगाल (हरा) है; (२) बुते हुए, क—गेरू, हिरौंजी, रामरज तथा हरा ढाबा और ख—नील तथा स्याही। सफेदे का प्रयोग रंगों को हलका करने के लिये वा स्वतंत्र रूप से हुआ है। अकबर कालीन चित्रों में ये रंग वा इनके मिश्रण, साया का रंग मिला के, बदरंग नहीं किए गए हैं। इसी से वे हरदम टटके जान पड़ते हैं।

हम्जा चित्रों के बाद अपने पूर्ण विकास काल में यह शैली **ईरानी, कश्मीर** तथा **राजस्थानी** विशेषताओं को आत्मसात् करके एक बड़े ही सुंदर रूप में प्रकट होती है। इसके उत्कृष्टतम नमूने-पटना पुस्तकालय की तवरीखे खानदागे तैमूरिया तथा जयपुर का महाभारत है। इनमें जसवंत तथा बसावन की कृतियां भी हैं। यद्यपि इन दोनों का विषय बिलकुल प्रतिकूल दिशाओं का है फिर भी शैली की दृष्टि से दोनों एक हैं। यही एकता, जो इन्हीं में नहीं सभी विकसित अकबरी चित्रों में व्याप्त है, अकबर के सिद्धांत वाक्य 'सुलह कुल' का मूर्तरूप है। इस एकता को हम रेखाओं की गुलाई, आलेखन में डौल, गति, **एकचश्म** चेहरों, हस्त-मुद्राओं, वस्त्रों की शिकन तथा फहरान, वृक्षों के स्वाभाविक आलेखन एवं अभिव्यंजक **संयोजन** के रूप में पाते हैं, जो सभी अकबरी ग्रंथ-चित्रों में सर्वथा एक हैं। इस एकता को हम चित्रों की दो और बातों में पाते हैं—एक तो प्रायः सभी ऐसे चित्र एकाधिक, बहुत

करके तीन चित्रकारों के सहयोग से बने हैं। एक ने **टिपाई** की है, दूसरे ने **गद्कारी** (=रंगामेजी) और तीसरे ने **खुलाई**। दूसरे, इनके अधिकांश कलाकार, प्रायः पंचानबे प्रतिशत, हिंदू हैं।

इस प्रकार **अकबरी कला** अपने विकसित रूप में, अपना निजत्व प्राप्त कर लेने पर भी, सर्वथा भारतीय रहती है, क्योंकि एकता की उक्त विशेषताएँ **ईरानी शैली** (§ ३४) से सर्वथा विपरीत एवं पूर्णतः भारतीय हैं। उनमें जो कुछ **ईरानीपन** है वह नकाशी में वा आलंकारिक आलेखन में है, किंतु वह गौण है। अर्थात् **ईरानी कला** की विशेषता इस शैली की एक अवांतर ब्योरा बन गई है। कारीगरों का उक्त सहयोग उनकी श्रेणियों के समय से चला आता है (पृ० ६४)। **एकचश्म** चेहरे की भाँति **ईरानी शैली** में इस चाल का अभाव है।

यद्यपि यह शैली अकबर के कारखाने में लालित-पालित हुई थी, किंतु चित्रकारों के जो विषय आलेखन को लिये दिए गए थे उनमें अधिकांश, जैसे भारतीय लोक वा धर्म कथाओं के एवं अकबर के जीवन के (*क्योंकि उस समय के भारतीय अकबर को* पूर्व जन्म का तपस्वी मानते थे), उन (चित्रकारों) की भावाभिव्यक्ति एवं परंपरा के सर्वथा अनुकूल थे। इसी से इन चित्रों में इतनी सजीवता और उन्मुक्तता पाई जाती है।

सच तो यह है कि **अकबरी चित्र-कला** की अपनी एक अलग शैली है। यदि वह **मुगल शैली** के अंतर्गत आ सकती है तो केवल इस कारण कि अकबर मुगल था।

§ ३६. **चित्रों और चित्रकारों के प्रति अकबर का भाव**—अबुल्फज्ल ने आईन में बताया है कि अकबर का चित्र और चित्रकारों से कितना प्रेम था और उनके प्रति उसकी कैसी उदार और आदर बुद्धि थी। उसके कितने ही चित्रकार मन्सबदार एवं ओहदों पर थे। १५७३ ई० में जब उसने, अपने चुने से चुने सत्ताइस सरदारों को लेकर अहमदाबाद पर तूफानी धावा किया था[१] तो उसके उक्त दल में तीन चित्रकार भी थे। उसके यहाँ यदि कोई विशिष्ट अतिथि आता था तो उसे अपने चित्र के कारखाने की भी सैर कराता था। जहाँगीर लिखता है कि अबदुस्समद को अकबर बड़े सम्मान से रखता था।

§ ३७. **१६वीं शती में कश्मीर शैली**—ऊपर (पृ० १२६) इस शैली के इस कालवाले फुटकर चित्रों का उल्लेख हो चुका है। इनके सिवा इस शैली के चित्रों से विभूषित आचार्य केशवदास की

१—अकबर ने, २३ अगस्त को आगरे से निकल कर २सरी सितंबर को अहमदाबाद में युद्ध शुरू कर दिया था, अर्थात् सारा मार्ग केवल नौ दिन में तय किया था जो उस काल की सवारियों की दृष्टि से वायुयान की गति हुई।

रसिकप्रिया की एक प्रति के चौवालीस चित्र पाए गए हैं। इनमें से बत्तीस बोस्टन संग्रहालय में, शेष लंदन तथा अमरीका के निजी और सार्वजनिक संग्रहों में हैं। **अकबरी** चित्रों में **कश्मीर शैली** का कितना अंश है, इसका ज्ञान इन चित्रों को देखने से होता है; यहाँ तक कि कुमारस्वामी को इन चित्रों में अकबर-कालीन **मुगल शैली** का धोखा हुआ है और उन्होंने इन्हें उसी विभाग में दर्ज किया है। रसिकप्रिया १५९१ ई० में पूरी हुई थी, अतएव कुमारस्वामी की यह स्थापना तो मानी नहीं जा सकती कि यह प्रति बीरबल के लिये तैयार की गई हो सकती है, क्योंकि वे १५८६ ई० में वीर-गति पा चुके थे; फिर भी शैली और अक्षरों के अनुसार यह लग० १६०० ई० की जान पड़ती है।

§ ३८. **१६वीं शती में राजस्थान शैली**—इस शती में यह शैली उस अवस्था से अधिक आगे नहीं बढ़ी जिसमें हमने उसे १५वीं शती में छोड़ा है (§ २६ ख)। अब यह शैली **अपभ्रंश शैली** के मुख्य गढ़, जैन चित्रित पोथियों पर अपना अधिकार जमाने लगती है। १५९० ई० की उत्तराध्ययन सूत्र की एक प्रति श्री साराभाई के पास है। इसके चित्रों में हम उक्त संक्रमण के उदाहरण, अर्थात् **राजस्थानी** और **अपभ्रंश शैली** का विचित्र सम्मिश्रण पाते हैं। १७वीं शती में पहुँच कर जैन पोथियों एवं चित्रों में पूर्णरूप से **राजस्थानी शैली** का व्यवहार होने लगता है।

क—**व्रज में राजस्थानी शैली का केंद्र**—ऊपर (§ ३५ ख-२) हमने चर्चा की है कि हम्जा चित्रावली में मीनाक्ष अर्थात् फड़कती हुई मछली की तरह बाँकी आँखें भी पाई जाती हैं। यह एक संयोग हो, सो नहीं; क्योंकि उन चित्र-पटों में जहाँ ऐसी आँखें लिखी गई हैं वहाँ इनका पूरक भ्रू-चाप भी मौजूद है। विकसित **राजस्थानी शैली** में सर्वत्र ऐसी ही आँख पाई जाती है। इतना ही नहीं, जहाँगीर-काल बीतते न बीतते नेत्र का यह प्रकार **मुगल शैली** में भी व्यवहृत होने लगता है और १७वीं शती के उत्तरार्द्ध में तो इसका एकाधिपत्य हो जाता है।

यह आँख १६वीं शती के पूर्वार्द्ध से **राजस्थानी शैली** का एक दूसरा केंद्र बनने की सूचक है। यह केंद्र व्रज होना चाहिए जहाँ उस समय वैष्णव-पुनरुत्थान में पूरी सक्रियता आ चुकी थी। वहीं के कृष्ण-चित्रों में इस कटावदार आँख का पहले पहल आलेखन हुआ होगा, क्योंकि यह उस काल के रसिकराय कृष्ण की छवि के अनुरूप है। अब भी नाथद्वारा के चित्रों में इसका आलेखन विशेष रूप से पाया जाता है, क्योंकि वहाँ के चित्रकार उसी परंपरा के हैं जो आरंभ ही से वल्लभ संप्रदाय से संबंधित है, जिसका मुख्य केंद्र नाथद्वारा के पहले व्रज था।

§ ३६. **१६वीं शती में चित्र-वाङ्मय**—यों तो अकबर ने भी सीकरी में भित्ति-चित्र बनवाए थे, जो हम्जा चित्रावली से मिलते

जुलते हैं। किंतु विशिष्ट रूप में यह प्रथा दक्षिण भारत में ही जीवित थी। फलतः १६वीं शती में केरल के श्रीकुमार ने अपनी शिल्परत्न नामक वास्तु शास्त्र की पुस्तक में चित्रांकण का सिद्धांत और विधान भी दिया है। इसकी बातें चित्रसूत्र और अभिलषितार्थ-चिंतामणि की परंपरा में हैं अतः उन्हें दुहराने की आवश्यकता नहीं। शिल्परत्न त्रिवेंद्रम् सीरीज में प्रकाशित हो चुका है। बिहार ऍंड उड़ीसा रिसर्च जर्नल (भाग ६, अंक १) में जायसवाल का इस पर एक लेख भी है।

सातवाँ अध्याय

§ ४०. जहाँगीर (१६०५—१६२७ ई०) तथा जहाँगीर कालीन मुगल शैली (१६१०—१६२७ ई०)—जहाँगीर बड़ा ही सहृदय, सुरुचि-संपन्न, परले दरजे का चित्रप्रेमी, प्रकृति-सौंदर्य-उपासक, वृक्ष-खग-मृग-विज्ञानी, संग्रहकर्ता, विशद वर्णनकार और सबके ऊपर पक्का जिज्ञासु और प्रज्ञावादी था। जिस बात को उसकी बुद्धि गवारा नहीं करती उसे वह पास न फटकने देता। यद्यपि उसकी विशेषताओं के और भी पहलू हैं किंतु हमें इन्हीं से काम है। उसके समय की चित्रकला भी उसकी इन्हीं वृत्तियों की प्रतीक है।

अकबर की वह चित्रकला, जिसकी रेखा-रेखा में भारतीय संस्कृति के उस महान् प्रतिसंस्कारक की भावना और प्रेरणा बोल रही है, जहाँगीर के राज्यारोहण के प्रायः पाँच वर्ष बाद तक बनी रही। इसके उपरांत मुगल कला का संबंध पुनः ईरानी शैली से होता है। जहाँगीर के आश्रय में उसकी कुमारावस्था से ही आका

रिजा नामक एक ईरानी चित्रकार था। उसका पुत्र अबुल्हसन जहाँगीर का बड़ा प्यारा चित्रकार था। अकबरी प्रभाव के समाप्त होते ही जहाँगीर कालीन चित्र-कला पर उसका पूर्ण वा आंशिक प्रभाव मिलने लगता है। साथ ही जहाँगीर का आशय उतना उदार न होने के कारण चित्रकला के विषयों का दायरा बहुत ही सीमित हो गया। अब उसमें लोक वा धार्मिक कथाओं के चित्रों तथा ख्याली चित्रों का अभाव हो गया। उसका मुख्य संबंध जहाँगीर विषयक घटनाओं और उसका ध्यान आकृष्ट करनेवाली वस्तुओं से रह जाता है। इसी कारण थोड़े ही दिनों में उसमें से ईरानी प्रभाव भी दूर हो जाता है और उसके बदले असलियत और निसर्ग-निरीक्षण आ जाता है।

जहाँगीर ने भी अपना आत्म-चरित लिखा है। यद्यपि साहित्यिक दृष्टि से यह उस उच्चकोटि का नहीं है, जैसा बाबर का; फिर भी यह बहुत सुंदर और बड़े ही रोचक विवरणों से पूर्ण है तथा चित्रों की चर्चा सर्वत्र विद्यमान है। स्व० मुं० देवीप्रसाद ने अपने जहाँगीरनामा में इसका अधिकांश हिंदी पाठकों के लिये सुप्राप्य कर दिया है। अस्तु, इसकी सचित्र प्रतियाँ उसने तैयार कराई थीं जिनमें से अभी तक एक भी उपलब्ध तो नहीं किंतु उसके अलग अलग चित्र जो जहाँगीर की जोवनी से संबंध रखते हैं, संसार भर के भारतीय संग्रहों में फैले हुए हैं (फलक—१६)। इन चित्रों

के सिवा जहाँगीर जो भी सुंदर वा विलक्षण पशु-पक्षी (फलक–१८), फूल वा वृक्ष देखता था उनके चित्र तैयार करवाता था। इस प्रकार के चित्रों का मुख्य निर्माता उसका दरबारी चित्रकार उस्ताद मंसूर था।

अपने क्रोध, करुणा वा सौहार्द आदि की वृत्तियों के परि-तोषार्थ भी वह चित्र बनवाता था—जैसे, यदि कोई उसे दगा देकर निकल जाय तो उसके चित्र की भर्त्सना करने में उसे शांति मिलती थी। इसी प्रकार अपने एक दरबारी इनायतखाँ को, परम दयनीय अंतिम दशा में वह देखने गया और उसके प्रति अपनी सहानुभूति, उसका अस्थिशेष चित्र बनवाकर व्यक्त की। इस चित्र का प्रथम रेखांकण बोस्टन संग्रहालय में और रंगीन प्रति आक्सफर्ड के बॉडलियन पुस्तकालय में है। इसके तथा अन्य कई चित्रों के तैयार होने की ठीक ठीक तिथि जहाँगीर के आत्म-चरित्र के सहारे बताई जा सकती है। अब सौहार्द-विषयक चित्र का उदाहरण लीजिए—

बिशनदास नामक एक परम कुशल चित्रकार उसकी सेवा में था। उसके बारे में बादशाह ने अपनी रामकहानी में लिखा है कि शबीह लगाने में यह अपना जोड़ नहीं रखता। इसी लिये उसने अपने जो राजदूत ईरान के शासक शाह अब्बास के यहाँ भेजे थे (१६१८-१९ ई०), उसमें बिशनदास को ही शाह

का चित्र बनाने के लिये भेजा था। जहाँगीर लिखता है कि 'उसने मेरे भाई शाह अब्बास की ऐसी सच्ची शबीह लगाई कि मैंने जो उसे शाह के नौकरों को दिखाया तो वे मान गए। मैंने बिशनदास को एक हाथी और बहुत कुछ पुरस्कार दिया'। बिशनदास का यह आलेखन संप्रति बोस्टन संग्रहालय में है।

इन्हीं बिशनदास का बनाया शेख फूल नामक सूफी संत का चित्र कला-भवन में है। संभवतः इस पर जहाँगीर की हस्तलिपि भी है (फलक—१७)। हम देखते हैं कि यह पहुँचे हुए संत अपनी कुटी के आगे अपनी धुन में मस्त हैं और उनका प्रभाव उस भीड़ पर छाया हुआ है जो उनके दर्शनों के लिये वहाँ एकत्र है। ऊपर एक हरा भरा नीम का पेड़ इस दृश्य में बड़ी तरावट पहुँचा रहा है। सच्चे साधुओं पर जहाँगीर को अपार श्रद्धा थी। वह उनके दर्शनों को जाता था और उनके चित्र बनवाता था। उन्हीं में का यह चित्र है। एक चित्र में हम उसे तत्कालीन चिद्रूप स्वामी के सत्संग में पाते हैं।

क—**जहाँगीर कालीन स्त्री-चित्र**—संभवतः अकबर के समय में उसकी माता हमीदाबानू बेगम और जहाँगीर के समय में नूरजहाँ की भी **शबीह** तैयार हुई थी। जहाँगीर काल में स्त्रियाँ चित्र अंकित करती थीं, इतना तो निश्चित है। भारत-कला-भवन में उस काल का एक ऐसा चित्र है जिसमें एक चित्रकरी एक स्त्री की शबीह लगा रही है।

ख—**जहाँगीर शैली की विशेषताएँ**—हमने ऊपर देखा कि जहाँगीर कालीन **मुगल शैली** ने एक नया रास्ता लिया है। उसमें रूढ़ि न रहकर असलियत आ गई है; यही कारण है कि वह ईरानी प्रभाव से भी मुक्त हो गई है। बारीकी और तैयारी में वह अकबरी चित्रों से कहीं आगे बढ़ गई है। यद्यपि उसके दरबारी दृश्यों में मुगल अदब-कायदे के कारण गति और सजीवता नहीं है, तथापि उसके जीवनी-संबंधी अन्य दृश्यों में काफी गति और सजीवता भी पाई जाती है। शिकार के चित्र इसके अच्छे उदाहरण हैं। उनमें के हाथियों में वह सारी परंपरा मौजूद है जो मोहनजोदड़ो के समय से चली आती है और जिसकी चर्चा अकबर कालीन चित्रों में भूल से छूट गई है। फलक–१६ में एक ओर दरबारी गंभीरता, दूसरी ओर भूखों और भिक्षुकों के चित्र में यथेष्ट भाव और अभिव्यक्ति है। पशु-पक्षियों के चित्र में भी कमाल का स्वभाव दिखाया गया है। उदाहरणार्थ फलक—१८ वाले बाज के चित्र की कठोर आँख और सिमटी पलक द्वारा उसका स्वभाव पढ़िए।

इन विशेषताओं के कारण जहाँगीर काल **मुगल-कला** के पूर्ण यैावन का है। इसमें उसका निजस्व खिल उठता है और वह एक महान् पुरुष की कला न रहकर, पूरब के एक बड़े दिलदार बादशाह की कला हो उठती है।

ग—**जहाँगीरी चित्रों में स्वाभाविकता**—यह एक समस्या है कि जहाँगीर कालीन चित्रों में इतनी स्वाभाविकता कैसे आई। उत्तर देने के लिये सीधा मार्ग है—'फिरंगी प्रभाव से'। किंतु इसी से संतोष नहीं किया जा सकता। निःसंदेह यह बात सर्वविदित है कि जहाँगीर के समय में यहाँ यूरप के चित्र काफी तायदाद में आ चुके थे और आ रहे थे, इतना ही नहीं जहाँगीर उनकी कदर और संग्रह भी करता था। उस समय यहाँ के कारीगर उनकी प्रतिकृति और उनके आधार पर स्वतंत्र चित्र भी बनाते थे। जहाँगीर कालीन कुछ चित्रों की **पृष्ठिका** वा अंश-विशेष में यूरोपीय दृश्य भी नकल किए गए हैं; फिर भी देखना तो यह है कि उक्त स्वाभाविकता यूरोपीय शैली की है वा स्वतंत्र। हमारा उत्तर है कि वह स्वतंत्र है। जहाँगीरी चित्रों के चेहरे **एकचश्म** हैं जो यूरोपीय कला में अपवाद रूप से पाए जाते हैं। जहाँगीर की हजारों तसवीरों में केवल एक **डेढ़चश्म** तसवीर मिली है, सो भी उस पर नाम नहीं दिया है। रूप-सादृश्य से अनुमान किया जाता है कि वह जहाँगीर की है। यदि फिरंगी प्रभाव होता तो जहाँगीर की हजारों **डेढ़चश्म** और एकाध **एकचश्म** तसवीर मिलती। इसी प्रकार **साया** और **उजाले** के प्रयोग से यूरप की तसवीरों में पूरा **डौल** दिखाया जाता है। जहाँगीरी चित्रों में वैसा साया और उजाला नहीं पाया जाता। फिर इन चित्रों का **दृष्टिक्रम** (पर्सपेक्टिव) विदेशी चित्रों से बिलकुल पृथक् है। चित्रों

के ये ही तीन मुख्य अंग हैं। जब इनमें इतनी विभिन्नता है तो कैसे जहाँगीरी स्वाभाविकता, 'फिरंगी प्रभाव से' पैदा हुई मान ली जाय?

यदि जहाँगीर के जीवन से चित्रकला इतनी संबद्ध थी कि वह किसी चित्र को देखकर यह तक बता देने की शक्ति रखता था कि उसका कौन अंश किस उस्ताद का बनाया हुआ है; यदि वह चित्रों के लिये इँगलैंड के राजदूत टॉमस रो से मोल भाव कर सकता था; यदि तैमूर के असली चित्र मिल जाने की संभावना से उसे एक नया राज्य पाने की प्रसन्नता हो सकती थी; यदि चित्रकारों को चित्र के गुण-दोष बताते हुए उसके चित्र पाए जाते हैं तो—जब कि उसने अपने चित्रों का विषय अपनी जीवन-घटनाओं और अपने निसर्ग प्रेम द्वारा सीमित रखा था—क्या उसने इस बात पर पूरा बल न दिया होगा कि उसके लिये स्वाभाविक चित्र बनाए जायँ; विशेषतः जब कि वह हर बात में तथ्य और वास्तविकता का बड़ा सूक्ष्म निरीक्षक था। जहाँगीरी चित्रों में असलियत का इससे सीधा और स्पष्ट कारण क्या हो सकता है?

घ—**एकचश्म शबीह का कारण**—इसके भी कई कारण सोचे गए हैं; किंतु ठीक वही है जो उस्ताद रामप्रसाद की परंपरा से ज्ञात है अर्थात् **एकचश्म** चेहरे में उसके प्रत्यंगों अर्थात् ललाट, नाक, ओठ और ठुड्डी का **सरहद** कायम रहता है अतः शबीह जल्दी लग जाती है; शबीह लगवानेवाले को कष्ट नहीं होता।

ङ—मुगल चित्र का विधान और सज्जा—यतः जहाँगीर काल में पुस्तक-चित्रों के बदले अधिकतर छिन्न चित्र ही बनने लगे थे जो मुरक्कों वा चित्राधारों में रखे जाते थे अतः उनके विधान और सज्जा की कुछ चर्चा आवश्यक जान पड़ती है।

थोड़े में मुगल विधान यह है कि अच्छे किस्मवाले कागद के दो तीन पर्त को लेई से एक में साट लेते हैं, इस पर लिकटी (एक में मिली हुई स्याही और गुलाली) वा आवरंग (एक में मिली स्याही, गुलाली और प्योड़ी) से जो शबीह वा ख्याली चित्र बनाना रहता है उसे अंकित कर जाते हैं। इसे **टिपाई** कहते हैं। फिर इस पर पतले सफेदे का तीन अस्तर देते हैं कि नीचे की आकृति दिखाई देती रहे और जमीन बँध जाय; बाद सफेदे की जमीन पर फिर से सम्हाल कर टिपाई कर जाते हैं इसे **सच्ची टिपाई** कहते हैं। तब चित्र को उलटकर मोटे काँच पर रखते हैं और पीछे से बट्टे द्वारा घोंटते हैं, इससे अस्तर बैठकर बराबर हो जाता है और उस पर ओप आ जाती है। फिर जहाँ जहाँ जो जो रंग अपेक्षित होता है उसे दो-दो तीन-तीन बार लगाते हैं इसे **गदकारी** कहते हैं; और उक्त प्रकार से घोंटते जाते हैं। इससे ओप[1] के सिवा दबा-

---

१—ग्रंथ-चित्रों में यह ओप, उन्हें मुलायम हाथों से साबर माँजकर पैदा करते हैं।

जत भी आ जाती है और चित्र मीनाकारी जैसा जान पड़ता है। तब रूपरेखा (**सरहद**) से आकार और अंग-प्रत्यंग का निर्णय करते हैं। इसे **खुलाई** कहते हैं। साथ ही जहाँ छाया वा सौंदर्यवर्धक रंग लगाने की आवश्यकता रहती है (जैसे आँख के कोये में रतनारा-पन) उसे भी लगाते जाते हैं। इसे **साया-सुसमा** कहते हैं। तब आभूषण, और यदि स्त्रीचित्र हुआ तो हाथ में मेंहदी, पैर में महावर आदि शृंगार और अलंकरण बनाते हैं। **इसे मोती-महावर** कहते हैं। उपरांत झीना वस्त्र अर्थात् जिसमें से नीचे का तन वा दूसरा वस्त्र आदि दिखाई पड़े, जैसे स्त्री की ओढ़नी और पुरुष का डुपट्टा, बनाते हैं। इसे **झीना ओढ़ाना** कहते हैं। अब तैयारी की घोंटाई करते हैं जिसके साथ चित्र तैयार हो जाता है।

इसके बाद चित्र वसलीसाज और तब नक्काश तथा खतकश के हाथ में जाता है। वसलीसाज उसे कागद के कई पर्त साटकर बनाई गई दफ्ती पर जमाता है जिसे **वसली** कहते हैं और तब नक्काश एवं खतकश बेलों तथा पट्टियों, खतों आदि से उसके हाशिये की सज्जा (अलंकरण) करते हैं।

ऐसे हाशिए भी उत्कृष्ट दस्तकारी के नमूने हैं। उन पर बेल, बूटे, शिकारगाह, बेल-बूटों के बीच-बीच पशु-पक्षी वा ऐसे दृश्य, जिनका संबंध चित्र से हो वा जो चित्र से मेल खाते हों, बने

रहते हैं। जान पड़ता है कि हाशिये के शेषोक्त चित्र नक्काश नहीं, चित्रकार ही तैयार करते थे। क्योंकि कभी-कभी तो वे प्रधान चित्र से भी उत्कृष्ट होते हैं। कुछ हाशियों पर सोने के तबक का छिड़काव रहता है जिसे **अफशाँ** कहते हैं। इन हाशियों से चित्रों का सौंदर्य दूना हो जाता है।

वसली के पीछे अकसर फारसी सुलिपि के उत्कृष्ट नमूने जमाए रहते हैं और उनके भी हाशिए बने रहते हैं।

वसली की प्रथा मुगलचित्रों का निजस्व है। यहीं से यह प्रथा १७वीं शती में ईरान में भी प्रचलित हुई; परंतु **राजस्थानी** चित्र १५वीं शती में भी वसली पर बनते थे, अतएव वसली की परंपरा भारतीय प्रमाणित होती है।

इस प्रकार प्रस्तुत और सज्जित किए गए जहाँगीर कालीन चित्र अब भी बड़ी संख्या में प्राप्त हैं। जहाँगीर संबंधी चित्रों के साथ साथ, इनमें उस काल के प्रायः सभी प्रमुख व्यक्तियों के चित्र भी जिनका मुगल शासन वा राजनीति से विरुद्ध किंवा अनुकूल संबंध था, मिलते हैं। इस प्रकार ये जहाँगीर काल की एक विशाल चित्रशाला बनाते हैं। ऐसे चित्रों के मुरक्के का एक उत्कृष्ट नमूना बर्लिन राजकीय पुस्तकालय में है। इसे जहाँगीर ने शाह-अब्बास के पास उपहार में भेजा था किंतु वहाँ से यह अपने वर्तमान ठिकाने पहुँच गया है।

अकबर काल की भाँति जहाँगीर और शाहजहाँ काल वाले मुगल शैली के अधिकांश चित्रकार हिंदू थे। इनमें जहाँगीर कालीन बिशनदास, मनोहर तथा गोबर्धन एवं शाहजहाँ काल के अनूपचतुर, चतुरमणि, होनहार, बालचंद और विचित्र विशेष उल्लेखनीय हैं।

§ ४१. **फारसी सुलिपि**—अभी फारसी सुलिपि की चर्चा हुई है। उसके संबंध में कुछ अधिक कहने की जरूरत है। चित्रण वर्जित होने के कारण अरबों ने अपनी कला-प्रवृत्ति रेखा और वृत्तों से निर्मित नकाशी एवं लिपि की छटा द्वारा व्यक्त की। लिपि को सुंदर बनाने की भावना उन्हें इस कारण भी हुई कि वही हजरत मुहम्मद के उपदेशों को मूर्त रूप प्रदान करती थी। इस प्रकार अरब में कूफी, नस्क, तुगरा आदि कई सुंदर और अलंकृत लिपियों का जन्म हुआ। किंतु उनमें मुख्यतः कोणों और रेखाओं की बहार थी।

१५वीं शती में ईरान ने इस लिपि में गोलाई उत्पन्न की, जिसका एक मुख्य भेद नस्तालीक है। इसमें वृत्त-खंडों और शोशों का सौंदर्य है। सुलिपि की यह शैली मुगल चित्रकारी की सहचरी रही। अबुल्फज्ल ने लिपियों का वर्णन जितने ब्योरे और बारीकी के साथ किया है चित्रण का उससे कहीं थोड़े में किया है, सो भी उसे लिपिकलावाले, अध्याय के अंतर्गत

रख कर। इसी से मुगल संस्कृति में लिपि की महत्ता समझ ली जा सकती है।

§ ४२. **१७वीं शती में राजस्थानी शैली**—अकबर ने जिस संस्कृति का निर्माण किया वह देश की सामाजिक और राजनीतिक परिस्थिति के इतनी अनुकूल थी कि समूचे देश ने उसे बड़ी शीघ्रता से अपना लिया। इस कारण **राजस्थानी शैली** की प्रगति बहुत धीमे-धीमे हो रही थी। दक्षिणी राजस्थान वा गुजरात के इस कालवाले नमूनों में आलेखन की आरंभिकता के बदले पुष्टता पाई जाती है तथा पटोल नेत्र के बदले मीनाक्ष का प्रयोग होने लगता है; *अर्थात् अब ब्रज-उद्गम और गुजरात-उद्गम की धाराओं* का संगम होकर एक प्रवाह चलता है। फिर भी उसमें **अपभ्रंश शैली** की विशेषताएँ पर्याप्त मात्रा में पाई जाती हैं।

बुंदेला-उत्थान के कारण इस समय बुंदेलखंड में भी हिंदू संस्कृति में नया प्राण-संचार हुआ। फलतः वहाँ भी आरंभिक **राजस्थानी शैली** के रागमाला तथा कृष्णलीला आदि के चित्र बनने लगे। इन चित्रों में बहुत ही कम कारीगरी है। लिखाई बड़ी भद्दी है तथा रंग इतने मोटे और कम-गोंद लगे हैं कि झड़े पड़ते हैं। इन कारणों से पहले पहल देखने में ये बहुत पुराने मालूम होते हैं। पहले कुमारस्वामी ने इन्हें १६वीं शती के आरंभ का माना था, किंतु बहुत शास्त्रार्थ के बाद अब उस शती के धुर

अंत का मानने लगे हैं। दूसरा वर्ग इन्हें लग० १६२० ई० का मानता है, परंतु ये उससे भी कुछ इधर के, लग० १६४० ई० के हैं जैसा कि इन के पहनावे, बुंदेलखंडी इमारत की शैली तथा इन पर की लिपि से प्रकट होता है।

§ ४३. **१७वीं शती में कश्मीर शैली**—१६४० ई० में आर्क-विशप लॉड ने ऑक्सफर्ड के बॉडलियन पुस्तकालय को एक भारतीय चित्राधार भेंट किया जिसमें रागमाला के अठारह चित्र भी हैं। ये चित्र बड़ी घटिया कलम के हैं, किंतु हैं इस शती के आरंभ में बने **कश्मीर शैली** के। इनमें परंपरा है, अतएव यह अनुमान करना अनुचित न होगा कि रागमाला के मूल नमूने वहीं से चले। ऊपर (पृ० १०४) बंगाल रागिनी के जिस चित्र की चर्चा हुई है उस पर भी **कश्मीरी** प्रभाव है।

महाराज वीरसिंहदेव के ओड़छा और दतियावाले महलों में कृष्णलीला आदि के **कश्मीरी शैली** के भित्तिचित्र बने हैं। जान पड़ता है, महाराज ने अपने महलों को अलंकृत करने के लिये कश्मीर से कारीगर बुलवाए थे, जैसे आज कल यूरप के कारीगर बुलाए जाते हैं।

इन्हीं से मिलते हुए १६२४ ई० के, जैन ग्रंथ शीलभद्र-चरित्र के चित्र हैं जिन्हें आगरे के शालिवाहन नामक उस्ताद ने बनाया था। उसी का १६१० ई० का **लिखा** एक चित्रपट भी अधि-

कांश में, इसी शैली का है। इन उदाहरणों से जान पड़ता है कि **कश्मीर शैली** की उस समय काफी पूछ और व्याप्ति थी।

ब्रिटिश संग्रहालय में एक बहुत बड़ा किंतु खंडित चित्रपट है, जिसमें एक उद्यान के बीच एक मंडप बना है। उसमें हुमायूँ से शाहजहाँ तक की चार पीढ़ियाँ बैठी हैं। बाहर दोनों ओर उनके पूर्वज हैं, इधर उधर परिचारक अपने कार्य में व्यस्त हैं। यह चित्र भी इसी काल में कश्मीर का बना है। जहाँगीर और शाहजहाँ के समय में इस प्रकार के चित्रों की प्रथा, संभवतः कश्मीर से ही चल पड़ी थी, जिसमें मुगल शासकों की कई पीढ़ियाँ एक संग अंकित की जाती थीं।

§ ४४. **दकनी शैली**—जिस समय इधर विंध्योत्तर भारत में महामना अकबर भारतीय संस्कृति में नई जान फूँक रहा था, उसी समय के आस पास दक्षिण की बहमनी बादशाहियों में अली आदिलशाह (बीजापुर) आदि की छत्र-छाया में भी एक सांस्कृतिक पुनरुत्थान हो रहा था। इसके अंतर्गत एक चित्र शैली भी थी जो वहाँ की पारंपरीण शैली का एक नया संस्करण थी (पृ० ८४-८५)। पीछे से इसपर **मुगल शैली** का भी प्रभाव पड़ा। व्यक्तियों के लंबे कद, वस्त्रों में डोरिया वा लंबी रेखाओं की प्रधानता, जिससे आकृतियों की लंबाई और भी बढ़ जाती है, वृक्षों तथा फूल-पत्तियों में नक्काशपन, मोटी लिखाई इस **दकनी शैली** की विशेषताएँ हैं (फलक—२१)।

आठवाँ अध्याय

§ ४५. **शाहजहाँ काल (१६२८—१६५८ ई०) की मुगल शैली**—शाहजहाँ के समय से **मुगल शैली** एक दूसरे ही रूप में सामने आती है। अब बादशाह का उससे कोई निजी संबंध नहीं रह जाता। वह मुगलई वैभव और शान-शौकत के, जो इस समय अपनी पराकाष्ठा को पहुँच गई थी, प्रदर्शन का एक अंग मात्र रह गई जैसा कि शाहजहाँ की अन्य कृतियाँ भी हैं। अब चित्रों में हद से ज्यादा रियाज, महीनकारी, रंगों की खूबी तथा शान-शौकत एवं अंग प्रत्यंगों की लिखाई, विशेषतः हस्तमुद्राओं में बड़ी सफाई और **कलम** में कहीं से कमजोरी न रहने पर भी दरबारी अदब-कायदों की जकड़बंदी और शाही दबदबे के कारण, इन चित्रों में भाव का सर्वथा अभाव बल्कि एक प्रकार का सन्नाटा पाया जाता है, यहाँ तक कि जी ऊबने सा लगता है।

इस प्रकार के चित्रों से अलंकृत अपने समय के इतिहास, पादशाहनामा, की एक प्रति उसने तैयार कराई थी। इसमें

कई सौ चित्र थे। यह प्रति तितर बितर हो गई। इसके अनेक चित्र भिन्न-भिन्न संग्रहों में पाए जाते हैं।

इनमें का एक भारत-कला-भवन में है, जो शाहजहाँ काल की अच्छी से अच्छी तसवीरों में है। इसका समय १६४५ ई० के कुछ बाद है। उस सन् में शाहजहाँ के दूसरे बेटे मुराद ने बलख के बादशाह नजर मोहम्मद से उसका देश जीत लिया था। इस चित्र में उस समय का दृश्य है जब नजर मोहम्मद मुराद के पास उपस्थित होता है (फलक—१६)। दोनों एक दूसरे से मिल रहे हैं। इधर उधर पदाधिकारी और सरदार समुचित स्थानों में खड़े हैं। इस चित्र में, इसके कृती फतहचंद ने बलख का **सैरा** (प्राकृतिक दृश्य) दिखाने में कमाल कर दिया है।

यदि शाहजहाँ कालीन किन्हीं चित्रों में उन्मुक्तता है तो उनमें, जिनमें बादशाह की किसी संत से भेंट चित्रित है। इनमें दरबारी जकड़बंदी और कृत्रिमता से एक क्षण के लिये छुट्टी मिल जाती है। मुगलवंश शुरू से साधुभक्त था अतएव शाहजहाँ के भी ऐसे चित्र पाए जाते हैं।

ईसाई विषयों के चित्रों में भी भाव रहते हैं; किंतु ये भाव मूल विदेशी चित्रों के हैं। ऐसा एक चित्र दिया जा रहा है (फलक—२०)। इसमें शिशु ईसा मसीह की मृदुल दिव्य छवि दर्शनीय है। कुमारी मरियम के निर्विकार हँसते हुए चेहरे पर पवित्र वात्सल्य बड़ी कुशलता से दरसाया गया है।

शाहजहाँ काल से यवन सुंदरियों के चित्र भी मिलने लगते हैं, जिनसे मुगल स्त्री-सौंदर्य का आदर्श जाना जा सकता है। अभागे दाराशिकोह ने अपनी अनुगता पत्नी नादिरा बेगम को, १६४१ ई० में एक चित्राधार उपहार दिया था, जो इस समय इंडिया आफिस, लंदन में संगृहीत है। इसमें उक्त सौंदर्य-चित्रों के तथा शाहजहाँ कालीन व्यक्ति-चित्रों आदि के एवं चित्रों के हाशियों के अच्छे अच्छे उदाहरण हैं।

विकसित **मुगल शैली** मुख्यत: **शबीह** की कला है, और इसमें संदेह नहीं कि उसकी अच्छी **शबीहों** में सूरत के साथ सीरत (स्वभाव) दिखाने में चित्रकारों ने कमाल किया है।

§ ४६. **औरंगजेब (१६५८ से १७०७ ई०) से आलमगीर सानी (१७४८—१७५६) तक की मुगल शैली**—औरंगजेब के समय से, मुगल वैभव के समस्त अंगों की तरह चित्रकला में भी ह्रास के कीड़े लग चले। शाहजादगी से लेकर बूढ़े और कुबड़े हो जाने तक के उसके कितने ही चित्र मिलते हैं। ये चित्र बिना उसकी अनुमति के नहीं बन सकते थे; उस समय फोटोग्राफी न थी कि पल भर में चित्र ले लिए जाते। शबीह लगाना घंटों का काम था और कल्पना से उसका किया जाना असंभव था। फिर भी उसके समय में चित्रकला उपेक्षिता ही रही।

हाँ, इस कला का एक उपयोग वह अवश्य करता था। ग्वालियर के किले में उसने अपने जिन कुटुंबियों को बंद कर रखा था, उनकी यथार्थ अवस्था जानने के लिये वह हर महीने उनकी तसवीरें बनवाया करता कि पोस्त के उस प्याले का, जो प्रतिदिन उन राजबंदियों को दिया जाता था, मासिक परिणाम उसे (औरंगजेब को) मालूम होता रहे।

इस समय के दरबारी चित्रकार भी अधिकतर हिंदू थे। औरंगजेब के बाद मुगल साम्राज्य की भाँति **मुगल** चित्र-कला का इतिहास भी उसकी पड़ती का इतिहास है। यद्यपि मुहम्मदशाह के समय तक के चित्र, जहाँ तक कारीगरी का संबंध है, अपना पूर्व गौरव बहुत कुछ बनाए रहते हैं, किंतु मुगल वंश का कोई सम्मानवर्धक इतिहास न रह जाने तथा उसके नैतिक पतन के कारण, जिसका प्रभाव सारे राष्ट्र पर पड़ा था, इन तसवीरों के विषय अब मुख्यत: राग-रंग और विलासिता से ही संबंध रखते हैं (फलक—२२)।

अब मुगल शैली से टूटकर उसकी अनेक विशेषताएँ **राजस्थानी शैली** में ले ली जाती हैं और उसके इस रूप की प्रतिक्रिया पिछली **मुगल शैली** पर होती है, जिसके कारण दोनों शैलियों में इतनी समानता आ जाती है कि किसी किसी चित्र के विषय में यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि वह किस शैली में रखा जाय।

§ ४७. **१८वीं शती में राजस्थानी शैली**—अब यह शैली पूर्ण विकसित हो चुकी है। यद्यपि आलंकारिकता इसकी मुख्य विशेषता है, यहाँ तक की **शबीह** की आकृतियों में भी आँख आदि में अत्युक्ति रहती है; तो भी, **मुगल-कला** के संसर्ग से कभी कभी इस विशेषता में शिथिलता पाई जाती है। रागमाला, बारहमासा और कृष्णलीला इसके मुख्य विषय रहते हैं एवं अनेक सचित्र ग्रंथ भी बनते हैं। फलक—१२, लग० १८०० ई० की रामचरितमानस की एक उत्कृष्ट सचित्र प्रति से लिया गया है। इसमें माता पार्वती का दिव्य सौंदर्य और भक्ति-भावना अवलोकनीय है। फलक—११ उन इने-गिने **राजस्थानी** चित्रों में से है जिनमें आलंकारिकता के बदले स्फूर्ति और स्वाभाविकता मिलती है। मस्त हाथी सिकड़ तुड़ा कर भागा है। महावत बेबस हो गया है। आगे साँड़नी-सवार, घुड़सवार और प्यादे उसे रोकने को व्यर्थ दौड़ रहे हैं।

इस समय इस शैली का मुख्य केंद्र जयपुर था। वहाँ के इस काल के रासमंडल और गोवर्धन-धारण के चित्र बड़े सुंदर और सजीव हैं। जोधपुर, उदयपुर, बूँदी और नाथद्वारा में भी अच्छा काम बनता था। भित्तिचित्र तथा पटचित्र की परंपरा चल रही थी।

दतिया के राजा शत्रुजीत (१७६१-१८०१ ई०) के समय में **बुंदेलखंडी कलम** अपनी पूर्णता को पहुँच गई। उस समय देव के अष्टयाम, बिहारी सतसई और मतिराम के रसराज की पूरी चित्रावली

तथा शबीह और धार्मिक चित्र बहुत बड़ी संख्या में तैयार हुए। इनका रंगविधान सपाट और आलेखन बिलकुल भावरहित है; पात्र पुतले से खड़े रहते हैं। हाँ, इनके स्त्री मुख-मंडलों की तराश सुंदर है और आँखें रसीली।

पेशवाई के कारण महाराष्ट्र में भी **राजस्थानी शैली** की पहुँच हुई। मराठा चित्रों पर, जो ब्रिटिश संग्रहालय में और अन्यत्र संगृहीत हैं, जयपुर की पूरी छाप है। बाजीराव पेशवा (१७७४-१८६१ ई०) ने पूना के अपने शनिवारवाड़ावाले प्रासाद को चित्रित कराने के लिये जयपुर से भोजराज चित्रकार को बुलाया था।

दक्षिण भारत में यह शैली मैसूर, तांजोर और रामेश्वर तक फैली थी। वहाँ के चित्रों में इसके साथ उत्तर-मध्यकालीन प्रभाव भी मिलता है जो भित्ति-चित्रों के कारण, उधर आज भी चला आता है।

§ ४८. **बसौली वा जम्मू शैली**—पंजाब में **राजस्थानी शैली** का एक केंद्र जम्मू वा उसके निकटवर्ती बसौली में था। यहाँ का आलेखन १७वीं शती के **राजस्थानी** चित्रों के बहुत निकट है। बसौली का राजवंश १७वीं शती में प्रयाग से आया था। यदि उसके संग बुंदेलखंड के चित्रकार रहे हों तो आश्चर्य नहीं, क्योंकि प्रयाग जमुना-पार से बुंदेलखंड का पड़ोसी है। अन्यथा कश्मीर की गोद में **राजस्थानी शैली** कैसे पहुँची, यह एक समस्या है।

इन चित्रों का विषय मुख्यतः रागमाला, गीतगोविंद, भागवत, रामायण, भारत एवं नायिका-भेद है। बुंदेलखंडी चित्रों की भाँति सपाट किंतु उससे तेज रंग, बड़े बड़े मीन-नेत्र जिनमें छोटी-छोटी पुतलियाँ, पीछे जाता हुआ ललाट, रूखी किंतु ओजदार लिखाई, कतरकर चिपकाए हुए सोन-किरवा (स्वर्ण-कीट) के पंख द्वारा गहने के हरे नगीनों का अंकन, सपाट पृष्ठिका के बिलकुल ऊपरी हिस्से में क्षितिज रेखा एवं उसके कारण एक पतली धज्जी-जैसा आकाश का आलेखन, इस शैली की विशेषताएँ हैं। साथ साथ मुकुट, दुपट्टे की फहरान एवं वास्तु आदि में **कश्मीरी** प्रभाव भी पाया जाता है। चित्रों पर टाकरी लिपि में और कभी-कभी देवनागरी में लेख रहते हैं।

१८वीं शती का मध्यार्ध इस शैली का उत्कर्ष काल है, जिसके मुख्य उदाहरणों में से १७३० ई० के मानकू चित्रकार की बनाई, गीतगोविंद चित्रावली है जो संप्रति लाहौर संग्रहालय में है। मानकू को स्त्री मानना भूल है, क्योंकि पंजाबी और हिंदी में ऊकारांत नाम पुरुषों के होते हैं, स्त्रियों के नहीं।

१८वीं शती के समाप्त होते होते यह शैली निर्जीव हो जाती है।

§ ४६. **पहाड़ी शैली**—१५वीं शती से जिस पुनरुत्थान का आरंभ हुआ उसकी उत्तरोत्तर प्रगति होती गई और अब भी

होती जा रही है। १६वीं शती से हम अपने अतीत से संबंध जोड़ने लग गए, जो प्रायः एक हजार वर्ष से छूट गया था। यद्यपि उस संबंध की महाभारत के बादवाली कड़ियाँ बहुत इधर तक अंधकार में थीं, फिर भी हमने भिन्न भिन्न भाषाओं में राम-चरित लिखे, भागवत एवं महाभारत की अवतारणा की। शिवाजी ने प्राचीन शासन-विधान उज्जीवित किया। जयसिंह ने प्राचीन पद्धति पर नगर बसाया, अश्वमेध किया, वेधशालाएँ बनाईं और उपजातियों को तोड़कर मूल चातुर्वर्ण्य कायम करने का उद्योग किया।

जिस प्रकार आचार्य केशव ने रामचंद्रिका द्वारा आदर्श राजा की प्राचीन अष्टयामचर्या का निदर्शन कराया उसी प्रकार कवि-प्रिया और रसिक-प्रिया द्वारा प्राचीन रीति-साहित्य से संबंध जोड़ा—जिससे हिंदी की रीति-कविता चल पड़ी और मतिराम, देव, बिहारी जैसे कवि-प्रवरों की वाणी प्रस्फुटित हुई।

उधर १७वीं शती में औरंगजेब की उपेक्षा के कारण और १८वीं शती के मध्यार्थ तक मुगल साम्राज्य के टूक-टूक हो जाने के कारण, बादशाही चित्रकार नए आश्रय खोजने पर बाध्य हुए। संभवतः उनमें से कुछ, रावी से पूर्ववाली काँगड़ा दून की रियासतों—चंबा, नूरपुर, गुलेर, कोट-काँगड़ा, सुकेत, मंडी कुल्लू एवं नाहन, सिरमौर आदि में पहुँचे। उन्हीं के हाथों १८वीं शती में **पहाड़ी शैली** का तरुवर रोपा गया। अकबर के

बाद से उनकी प्रतिभा शाही रुचि के बंधन में जकड़ गई थी। अब उसने मुक्ति पाई और उन्हें 'हुकम पाइ' के बदले 'स्वांत-स्सुखाय' रचना का अवसर मिला। यद्यपि यह काम भी वे आज्ञा से करते थे, किंतु इसमें उस वस्तु की अभिव्यक्ति का सुयोग प्राप्त था जो उन्हें रमणीय था। अर्थात्, उन्होंने चित्रों द्वारा प्राचीन से संबंध-स्थापन का भार लिया।

काँगड़ा दून **कश्मीर शैली** के क्षेत्र में था। तिब्बत से भी वहाँ का संबंध था। अब **मुगल** चित्रकारों ने **कश्मीर शैली** से नाता जोड़ के अपनी गुरु दक्षिणा ही नहीं चुकाई, अपितु उसमें नई जान फूँक दी। यही **पहाड़ी शैली** है। तिब्बत का प्रभाव भी इसमें कहीं, कभी पाया जाता है। किंतु इसका **कैँड़ा, वर्णिका,** और विधान विकसित **मुगल शैली** पर ही अवलंबित है जिसमें गति और अभिव्यक्ति **कश्मीर शैली** की है। इनके अतिरिक्त भाव-भंगी, मुद्राओं, कृष्ण के अतिसि वर्ण, वस्त्रों की फहरान, मुकुट आदि अनेक ब्योरों में भी **कश्मीर शैली** बोला करती है। कितने ही **पहाड़ी** चित्रों में तो मुख्यांश **कश्मीर** का ही मिलता है, अतएव इस शैली की परंपरा उसी से सिद्ध होती है। यदि यह शैली स्वतंत्र रूप से विकसित हुई होती तो इसकी आरंभिक अवस्था के चित्र भी मिलते। किंतु ऐसे **पहाड़ी** चित्र हईं नहीं जिनमें आरंभि-कता हो। अर्थात् वे **कश्मीर शैली** के रूपांतर में ही एक दम से

रंग-मंच पर आ जाते हैं। इसका समर्थन रामप्रसादजी की कुल-गत अनुश्रुति से भी होता है, जो **पहाड़ी** चित्रों को **कश्मीर की कलम** के अंतर्गत गिनती है।

ऐसी अवस्था में—साथ ही इन बड़े अंतरों के कारण भी कि **राजस्थानी** शैली मुख्यत: आलंकारिक कला है और यह भावात्मक; **राजस्थानी** चित्रों के विषय का मेरुदंड रागमाला है, इसमें (इसकी सहृदयता के अनुरूप) उसका प्राय: अत्यंता-भाव है एवं दोनों के उत्पत्ति काल में भी प्राय: तीन सौ वर्ष का अंतर है—ये दोनों शैलियाँ किसी प्रकार 'राजपूत' नामक एक बड़े वर्ग के भीतर नहीं आ सकतीं।

पहाड़ी चित्र शबाहत लिये हुए ख्याली होते हैं अर्थात् उनमें वास्तविकता और भावना का संमिश्रण रहता है। इस मिश्रण द्वारा इसके उस्तादों ने अपने चित्रण में बड़ी सजीवता और रम-णीयता उत्पन्न की है। ऐसा कोई रस वा भाव नहीं है, जिसका पूर्ण सफल अंकन ये कलाकार न कर सके हों। उनका आलेखन आवश्यकतानुसार 'वज्रादपि कठोर' वा 'कुसुमादपि मृदु' होता है। उनकी सहानुभूति अत्यंत विस्तीर्ण तथा व्यापक है, उनकी प्रत्येक रेखा में प्राण, स्पंदन और प्रवाह रहता है एवं वह एक अर्थ रखती है, चाहे वह छोटी से छोटी हो।

देवताओं के ध्यान, रामायण, महाभारत, भागवत, दुर्गा-सप्तशती इत्यादि, इत्यादि समस्त पौराणिक साहित्य; ऐतिहासिक गाथा; लोक-कथा; केशव, मतिराम, बिहारी, सेनापति आदि हिंदी के प्रमुख एवं अन्य अवांतर कवियों की रचनाओं से लेकर जीवन की दैनिक चर्या और शबीह तक ऐसा एक भी विषय नहीं जिसे उन्होंने छोड़ा हो। कोई भी विषय अंकित करना इन चित्रकारों के लिये असंभव था ही नहीं। न वे उसके एक दो चित्र बनाकर ही संतुष्ट हो गए। उन्होंने जिस विषय को उठाया उसकी मालिका की मालिका बना डाली, सो भी ऐसी लोकोत्तर कि देखकर दाँतों अँगुली दबानी पड़ती है। मौलिकता इन कृतियों में इतनी है कि आप यह न कह सकेंगे कि वे साहित्यिक रचना पर अवलंबित हैं। इन विशेषताओं के कारण यह कहना अत्युक्ति न होगा कि अजंता युग के बाद **पहाड़ी शैली** में ही भारतीय कला एक ऐसी ऊँचान तक उठी है जहाँ तक पहुँचना खिलवाड़ नहीं। किंतु **एकचश्म** चेहरे के सिवा अन्य रुखों के चेहरे की **लिखाई** में यह कला असफल रही है।

काँगड़ा के राजा संसारचंद्र (१७७४-१८२३ ई०) का समय **पहाड़ी** कला का स्वर्ण-युग है। १८२८ ई० में इन्हीं संसारचंद्र की दो कन्याएँ गढ़वाल-नरेश से ब्याही गईं। इसी सिलसिले में काँगड़े के चित्रकार यहाँ भी आए। इसी समय से

गढ़वाल में भी **पहाड़ी शैली** प्रतिष्ठित हुई। वहाँ के मोलाराम चित्रकार का नाम आजकल प्रायः सुन पड़ता है। किंतु जो चित्र मोलाराम पर आरोपित किए जाते हैं उनके निजस्वों में इतनी विभिन्नताएँ हैं कि वे एक चित्रकार के नहीं हो सकते। गढ़वाल में जो चित्र बने उनमें गीतगोविंद और बिहारी चित्रावली बड़ी ही सुचारु और सुकोमल हैं।

सिख-उत्कर्ष-काल (१७६०-१८४३ ई०) में **पहाड़ी शैली** का एक केंद्र लाहौर, अमृतसर में भी रहा, जहाँ इस कलम की, विशिष्ट सिख व्यक्तियों की अच्छी शबीह तैयार की गईं।

प्रायः १८५० ई० से, अर्थात् पंजाब की स्वाधीनता के अंत के साथ ही, इस शैली का अंत समझना चाहिए। यों तो **पहाड़ी कलम** के कारीगर अभी तक पाए जाते हैं। **पहाड़ी** भित्तिचित्र भी बराबर बनते थे। इस शैली के इतिहास के लिये इनका अध्ययन आवश्यक है। पर अभी तक इस ओर ध्यान नहीं दिया गया है।

पहाड़ी शैली के उत्कर्ष में **कश्मीर शैली** का स्वातंत्र्य विलीन हो गया और वह धार्मिक ग्रंथों के भद्दे चित्रों के रूप में कुछ दिनों तक साँस भरती हुई समाप्त हो गई।

पहाड़ी शैली के कोमल आलेखन के लिये मुख-चित्र देखिए। पुरवैय्या काली घटा को उड़ा लाई है, पानी आया ही चाहता है। यह प्रफुल्ल-वदना सुंदरी अटारी से घर के भीतर भाग रही है।

पवन से उसके वस्त्र उड़ रहे हैं। बड़ी सुंदर कल्पना है। **पहाड़ी शैली** स्त्री-सौंदर्य का एक बड़ा चारु आदर्श निर्माण करने में शक्य हुई है।

उदात्त आलेखन का नमूना फलक-१३ है। किस ओज से बालक कृष्ण कालिय के शरीर को कमलनाल की तरह, ताने हुए हैं; पटका ही चाहते हैं। उनके पैरों से दब कर उसका फण पिसा जा रहा है। नाग बालाएँ उसकी प्राण-भिक्षा माँग रही हैं और तट पर नंद यशोदा तथा गोप-गोपी-वृंद अपने लाड़ले के लिये व्याकुल हो रहा है।

§ ५०. **शाहआलम कालीन और उसके बाद के मुगल चित्र**--जो कुछ मुगल शान बच रही थी उसका भी अंत आलमगीर सानी के साथ हो गया। पानीपत का संग्राम इस महानाटक की समाप्ति का पटाक्षेप था। सानी का उत्तराधिकारी शाहआलम केवल नाम के अधिकारों को हस्तांतरित करने के लिये गद्दी पर बैठा था। फलत: उसकी कोई जिम्मेदारी न रह गई थी। उसका राज्यकाल भी बहुत लंबा हुआ (१७५९—१८०६ ई०) इस शांति रूपी निर्जीवता के समय का, दिल्ली के घरानेदार चित्रकारों ने एक उपयोग किया। नादिर, अब्दाली, सूरजमल जाट, मराठों, रुहेलों और सिखों की लूटों से दिल्ली का खजाना खाली हो गया था। उसके चित्र-रत्न भी कहाँ के कहाँ हो गए थे। इन चित्रकारों के पास

उनके **चरबे** (झिल्ली पर उतारे हुए खाके, ट्रेसिंग) चले आ रहे थे, जिनके सहारे इन्होंने अनेक प्राचीन चित्रों की प्रतिकृतियाँ तैयार कर डालीं।

ऐसे चित्रों की विशेषताएँ ये हैं—इसमें स्याही के साये का अत्यधिक प्रयोग रहता है; यहाँ तक कि चेहरों के मलपट काले-से हो जाते हैं। **परदाज** की भरमार रहती है **चेहरई** प्रायः पीली वा नारंगी **झलक** (टोन) की होती है। **सवा-चश्म, डेढ़-चश्म** चेहरों में नाक का टोंक ऊपर को उठा रहता है। आँखें चुंधी (चेहरे के अनुपात में बहुत छोटी) तथा हाथ पाँव की **लिखाई** बड़ी कमजोर रहती है। अकसर कद भी नाटे होते हैं।

ऐसे चित्रों के संबध में आजकल के कलाकोविद बड़ा धोखा खा रहे हैं और इन्हें मूल प्रतियाँ समझ रहे हैं। जालसाजी की भी ऐसी हो गई है; चित्रों पर शाही मुहर तक लगी हैं। संभव है कि ये शाहआलम के लिये भी बनाए गए हों। इस प्रकार का एक मुरक्का साउथ केंसिंगटन संग्रहालय में है जिसका नाम वेंटेज बिक्वेस्ट है। इसमें के चित्रों पर जहाँगीर की मुहर है। बीच-बीच में एकाध असली चित्र भी हैं। इसी तरह का एक साहस-पूर्ण जाल अलवर राज्य पुस्तकालय में है। यह बाबरनामे की सचित्र फारसी प्रति है, जिस पर लिपिकार का नाम मीर अली दिया है और लिखा है कि इसे हुमायूँ ने तैयार करा के बाबर को, उसके

अंतिम वर्ष में भेंट किया था। सोचने की बात है कि मीर अली हुमायूँ के पहले मर चुका था और बाबरनामे का फारसी अनुवाद हुमायूँ के देहांत के तैंतीस बरस बाद खानखाना ने,अकबर के लिये किया था (पृ० १३२)। अब इस जाली प्रति के चित्रों से वेंट्ज बिक्वेस्ट के चित्रों को मिलाइए और अपनी आँखों से उसका जाल पहचान कर असंदिग्ध हो जाइए।

इस समय मुर्शिदाबाद, लखनऊ और हैदराबाद में, जो मुगल साम्राज्य के सूबों से स्वतंत्र राज्य बन गए थे, पिछली **मुगल शैली** के केंद्र स्थापित हो चुके थे, किंतु इनमें कोई विशेषता नहीं आई और इनका अंत हो गया।

मुगल शैली के चित्रों की निर्जीव नकल करनेवाले कुछ कारीगर अब भी दिल्ली में हैं। किंतु एक शैली के रूप में इसका जीवन काल अधिक से अधिक १८६० ई० तक माना जा सकता है।

§ ५१. **पटना शैली**—यूरपवाले यहाँ हाथीदाँत की चित्रकारी तथा उसी विधान वाली कागद पर की चित्रकारी ले आए एवं उसके कारीगर भी तैयार किए। इस शैली को **पटना शैली** कहते हैं क्योंकि वहाँ इसके कई मुख्य घराने थे। इस शैली में शबीह को प्रमुखता है। इसके आलेखन में पूरा **साया** और **उजाला** अर्थात् पूरा **डौल** रहता है, जिसके लिये **परदाज** का उपयोग

अधिकता से किया जाता है। इसके चेहरे प्रायः **डेढ़ चश्म** रहते हैं। यहाँ के कारीगरों ने इस योरपीय विधान के संग महीनकारी भी मिला दी है; यही इस शैली की योरोपीय कला से मुख्य पृथक्ता है। १८वीं शती के उत्तरार्ध से **मुगल शैली** के नष्टप्राय हो जाने पर इस शैली का प्रचार हुआ। पटने के सिवा इसके मुख्य केंद्र लाहैार, दिल्ली, लखनऊ, बनारस, मुर्शिदाबाद एवं पूना, सतारा आदि थे।

विदेशी लोग इस शैली का एक यह उपयोग करते कि अपने देश के लिये यहाँ के पेशे, बाने, वेश और रहन-सहन के चित्र बनवाकर ले जाते। ऐसे सेट को **फिरका** कहते हैं। आजकल के चित्र-पोस्टकार्डों की तरह **पटना शैली** के कारीगर **फिरके** के सेट तैयार रखते थे।

§ ५२. **बनारस राज्य में पटना शैली**—बनारस के महाराज ईश्वरीनारायण सिंह (१८३५—१८८९ ई०) का विशिष्ट व्यक्तित्व था। दिल्ली, लखनऊ आदि के कितने ही गुणी, गायक उनके समाश्रित थे। हिंदी के दोनों आदिम स्तंभ, भारतेंदुजी तथा राजा शिवप्रसाद उनके दरबारी थे। भारतेंदुजी को वे घर के लड़के जैसा मानते थे और उनकी बहुत सहते थे। महाराज राम-चरितमानस के बड़े भक्त ही नहीं, मर्मज्ञ पंडित भी थे। देव (काष्ठ-जिह्व) स्वामी जो उद्भट विद्वान्, पहुँचे हुए महात्मा तथा ऊँचे दर्जे के कवि थे, उनके गुरु थे और उन्हीं के यहाँ निवास भी करते थे।

महाराज के समाज में, **पटना शैली** के दो उत्कृष्ट चित्रकार भी थे—लालचद और उनके भतीजे गोपालचंद। काशी में दल्लूलाल इस शैली के उस्ताद थे। उन्हीं से उक्त चित्रकारों ने यह कला प्राप्त की थी। इन दोनों चित्रकारों से महाराज ने इतने चित्र बनवाए कि उनको हम **पटना शैली** का जहाँगीर कह सकते हैं। इस चित्रावली में महाराज के इष्ट-मित्र, दरबारी, गुणी, कलावँत, राज-समाज एवं परिकर से लेकर पालतू पशु-पक्षी, रंग-बिरंगे जंगली पखेरू तथा फूल फल तक की बढ़ियाँ से बढ़ियाँ शबीह हैं। **पटना शैली** की शबीह तैयार करने में उक्त दोनों चित्रकारों का स्थान ऊँचा है। सौभाग्यवश उनके विषय में जानकारी भी हासिल है।

चित्रकला और उसके इतिहास की दृष्टि से तो यह चित्रावली महत्त्व की है ही, सांस्कृतिक इतिहास के लिये भी गुणियों के चित्र एव उस समय की वेश-भूषा आदि का बड़ा मसाला इसमें निहित है। इसमें हिंदी-प्रेमियों के आकर्षण के भी तीन चार चित्र हैं। भारतेंदुजी एक बार महाराज के लिये कई प्रकार के गुलदाऊदी के फूल ले गये थे; राजा शिवप्रसाद ने महाराज के लिये आम भेजे थे; उनके तथा देवस्वामी की जीवितावस्था के एवं समाधिस्थ होने पर के चित्र भी इस चित्रावली में हैं।

आरा निवासी एवं कलकत्ता प्रवासी उस्ताद ईश्वरीप्रसाद **पटना शैली** के वर्तमान प्रतिनिधि हैं। संभवतः उनका कुल उक्त उस्ताद दल्लूलाल के कुल से संबंधित था।

§ ५३. **उस्ताद रामप्रसाद**—१८वीं शती में कुछ मुगल शाहजादे बनारस में नजरबंद किए गए। उन्हीं के लवाजमे में चित्रकार भी थे, जिनमें के उस्ताद लालजी से काशी के सिक्खी नामक ग्वाल ने **मुगल शैली** की चित्रकला पाई। उस्ताद राम-प्रसाद उन्हीं सिक्खी के प्रपौत्र हैं।

यदि आपने काशी की गलियों में साठ-बासठ बरस के एक कृश स्थविर को, किसी धुन में तेजी से चले जाते देखा है, जिसकी आँखें खुड़राई हुई हैं, पकी हजामत बढ़ रही है, बड़ी मूँछ बिना सँवारी हुई है, सिर पर मैली मुड़ी सुड़ी गांधी टोपी है और कटि में उससे भी मैली धोती, किंतु तन पर एक बढ़िया दुपट्टा पड़ा हुआ है, पैर में जूता हो या न हो—तो जान लीजिए कि आप **मुगल शैली** के एकमात्र अवशिष्ट उस्ताद, रामप्रसादजी के दर्शन कर चुके हैं।

आपकी प्रकृति बड़ी साधु है और विचारों का दृष्टिकोण दार्शनिक एवं कलात्मक, अर्थात् तात्त्विक; क्योंकि किसी वस्तु का वास्तविक अनुभव करना उसके सौंदर्य का अनुभव करना है, इसी कारण दार्शनिक और कलाकार दोनों ही के विचारों में तात्त्विक एकतानता होती है। आपकी उक्तियाँ बड़ी ही चुस्त, मार्मिक और

सटीक (निशाने पर बैठनेवाली) होती हैं। भगवान् ने जैसा रस हाथ में दिया है वैसा ही कंठ और तबीयत में भी दिया है। आप स्वभाव से कृती और कलाकार हैं। किंतु, समय के फेर से आप को एक दरिद्र शिल्पी का जीवन व्यतीत करना पड़ रहा है।

मुगल शैली के तो आप एकमात्र प्रतिनिधि एवं ज्ञान-भंडार हैं ही, आपकी प्रतिभा सर्वतोमुखी भी है। आपकी मौलिक रचना का एक सुंदर नमूना शिव-तांडव का चित्र है (फलक—२३)। नटराज के प्रशांत मुख-मंडल पर तन्मयता और भाव-मग्नता का आत्यंतिक सुख खूब दिखाया है। आपके उमरखय्याम-चित्रों को डा० कुमारस्वामी ने, यूरप-प्रसिद्ध ड्यूलैक के चित्रों से विशिष्ट माना है। प्रकृति-निरीक्षण तथा शबीह लगाने में आप एक हैं।

§ ५४. **ठाकुर शैली**—स्वनामधन्य स्व० श्री० हैवेल (उस समय गवर्नमेंट आर्ट स्कूल, कलकत्ता के अध्यक्ष) की उद्भावना से आचार्य अवनींद्रनाथ ठाकुर के हाथों एक नवीन शैली—**ठाकुर शैली**—का निर्माण हुआ (लग० १९०३ ई०)।

वस्तुतः यह प्राचीन चित्रकला का पुनरुत्थान है, किंतु इसके महान् जन्मदाता अवनींद्र बाबू में, संसार भर की किसी भी चित्र-कला की विशेषता को अपनाकर पूर्णतः भारतीय बना लेने की अप्रतिम क्षमता है। फलतः **ठाकुर शैली** की पद्धति और अभि-व्यक्ति में अजंता की अनुयायिता होते हुए भी भारत की **मुगल,**

पहाड़ी आदि शैलियों की तथा चीनी, जापानी और पश्चिमी चित्रकला की कितनी ही खूबियाँ इस प्रकार आत्मसात् कर ली गई हैं कि इसका स्वभाव पूर्णतः भारतीय बना है। विस्मृत अतीत से संबंध जोड़ने की जो कामना तीन-चार सौ बरस से हमारे हृदय में लहरा रही थी (§ ४६) वह अब आकर पूरी हुई, क्योंकि अब अपना विगत अंधकारमय नहीं रह गया है।

आरंभ में यह शैली मुख्यतः प्राचीन विषयों को ही लेकर चली, किंतु अब तो इसका क्षेत्र बहुत विस्तीर्ण हो गया है—अर्वाचीन सामाजिक जीवन तथा प्राकृतिक दृश्यों का भी इसमें सफल अंकन हो रहा है। स्वयं अवनींद्र बाबू के चित्रण-विषयों का क्षेत्र प्रायः सारे संसार को घेरे हुए है।

आचार्य अवनींद्रनाथ का प्राचीन विषयवाला एक चित्र यहाँ दिया जाता है (फलक—२४)। तिष्यरक्षिता अशोक की रानी थी। जब सम्राट् का अधिकांश समय पूजा-उपासना में बीतने लगा तो रानी को बोधिद्रुम से सौतिया डाह हुआ और उसने द्रुम को नष्ट कर डाला। इस चित्र में वह उसे कैसी कुटिल और कर्कश दृष्टि से देख रही है।

आचार्य के अग्रज स्व० गगनेंद्रनाथ ठाकुर ने अंकन-विधान और चित्रित विषयों के उपस्थित करने के कितने ही अनोखे एवं सफल प्रयोग किए। उनका एक आलेखन है जो छोटे-छोटे

त्रिकोणों और चतुष्कोणों का समूह मात्र है। इसका विषय है—**हास**। अमूर्त हास को यह मूर्तरूप देना उन्हीं के-से कलाकार का काम था, जैसे कालिदास ने कैलास के प्रकांड शिखर द्वारा शिव की अट्टहास-राशि का दर्शन कराया है।

गगनेंद्र बाबू के प्राकृतिक दृश्यों के चित्र भी अपूर्व हैं। उनके व्यंग्य चित्रों में वह करुणा ओत-प्रोत है, जिसका कारण है अपने देश की—धार्मिक, सामाजिक एवं राजनीतिक विपत्ति तथा अधःपतन, जिनसे प्रत्येक सहृदय विगलित हो उठता है।

इधर विश्व-कवि रवींद्रनाथ ठाकुर भी चित्र बनाने लगे हैं। **ठाकुर शैली** के अंतर्गत होते हुए भी उनके छायावादी चित्रों का एक अलग स्थान है। और, अवनी बाबू के पट्ट-शिष्य महान् कलाकार श्री नंदलाल बोस की व्यापक सहानुभूति, कल्पना की उड़ान तथा अंकन विधान की बहुमुखी प्रतिभा तो सारे भारत में अद्वितीय है। उनकी रहनी संतों की है।

आचार्य अवनींद्रनाथ का शिष्य-प्रशिष्य परिवार बहुत बड़ा है। उसके द्वारा **ठाकुर शैली** समूचे देश में फैल चुकी है और राष्ट्रीय कला के आसन पर आसीन भी हो चुकी है, जिसके वह सर्वथा उपयुक्त है। इस उत्थान से विश्वास होता है कि हमारी कला का भविष्य बड़ा समुज्ज्वल है॥

वार्तिक

पृ० ११५. §३४ के पहले—ग–भारत—भारत की मुसलिम-विजय के मुख्य उद्देश्यों में धर्म-प्रचार भी था। अतएव यहाँ के मुसलिम-शासक धार्मिक नियमों के अधिक पाबंद रहे। फलतः मुगलों से पहले के प्रामाणिक मुसलिम-चित्र नहीं मिलते। मुहम्मद तुगलक (१३२५—'५१ ई०) का एक तथाकथित चित्र कलकत्ता संग्रहालय में है, किंतु यह १८वीं शती की दकनी शैलीवाले शाहनामे की किसी प्रति का पन्ना है। इसे किसी आधुनिक जालिए ने वसली पर जमाकर फीकी स्याही से मुहम्मद तुगलक का नाम लिख दिया है, जिससे हैवेल तथा कुमारस्वामी तक धोखा खा गए।

मुहम्मद तुगलक के उत्तराधिकारी फिरोज तुगलक (१३५१–'८८ ई०) ने अपनी आत्म-कथा लिखी है। उससे पता चलता है कि चित्र-प्रेमी होते हुए भी उसने प्रासादों में, जो प्राणियों के चित्र थे उन्हें धार्मिक कर्तव्य-वश पुतवा दिया था और बगीचों के दृश्य अंकित कराए थे। एक इस घटना में उन दिनों के मुसलिम-शासकों की सारी भावना निहित है।

इस धार्मिक पाबंदी का एकमात्र अपवाद सुलतान इल्तुतमिश (१२११—'३६ ई०) का चाँदी का टंक (सिक्का) है जिसे उसने बंगाल-विजय के उपलक्ष्य में चलाया था। इस पर घोड़ा उड़ाते हुए उसकी बड़ी ही जानदार तसवीर बनी है।

मुसलिम-शासकों के उक्त दृष्टिकोण में परिवर्तन मुगलों के साथ हुआ, जिनका कुलगत कला-प्रेम मध्य-एशिया में मूल निवास के कारण था, जहाँ चीन के पड़ोस और बौद्ध प्रभाव के कारण कला-पूर्णतः व्याप्त थी।

पृ० १२७. **हम्जा चित्रपटों में पहनावा**—कवचधारी व्यक्तियों को छोड़कर शेष पुरुषों का पहनावा पारंपरीण भारतीय है, अर्थात् जामा जिसके दामन के चारों कोने त्रिकोणाकार में नीचे लटके होते हैं, और पाजामा। उक्त त्रिकोण दामन कम से कम गुप्तकाल से चला आता था, जिसे अकबर ने सीधा कर दिया था (पृ० १०५. नोट–१)। स्त्री-परिच्छद त्रिकोण दामनवाली लंबी कुरती तथा ओढ़नी पाजामा है। मूर्तियों से, कश्मीर में इस पोशाक का पता ई० ३सरी शती से लगता है।

पृ० १२७. हम्जा चित्रों का वास्तु भी प्रायः सर्वथा भारतीय है।

पृ० १४८. पंक्ति ३–६ से संबंधित—**जहाँगीर के प्रगाढ़ चित्र-प्रेम के उदाहरण**—

(१) जहाँगीर अपने आत्म-चरित में सिंहासनारोहण के चौदहवें बरस लिखता है—"मेरी चित्र की रुचि और पहचान यहाँ तक बढ़ गई है कि प्राचीन और नवीन उस्तादों में से जिस किसी का काम मेरे देखने में आता है, मैं उसका नाम सुने बिना ही झट उसे पहचान लेता हूँ कि अमुक उस्ताद का बनाया है। यदि एक चित्र में कई चेहरे हों और हरेक चेहरा अलग-अलग चित्रकार का बनाया हुआ हो तो मैं जान सकता हूँ कि कौन चेहरा किसने बनाया है। और यदि एक ही चेहरे में आँखें किसी की और भवें किसी की बनाई हुई हों तो भी मैं पहचान लूँगा कि बनानेवाले कौन हैं"।

—जहाँगीरनामा, दूसरा भाग, पृ० ३३१.

(२) इँगलैंड के राजदूत सर टॉमस रो ने अपने यात्रा-वृत्तांत में लिखा है—"बादशाह को मैंने एक चित्र दिया था। मुझे विश्वास था कि भारत में उसकी नकल होना असंभव है। एक दिन बादशाह ने मुझे बुला कर पूछा कि उस चित्र के तद्वत् प्रति-

कृतिकार को क्या दोगे ? मैंने कहा—चित्रकार का पुरस्कार ५०) है। उत्तर मिला—मेरा चित्रकार मंसबदार है, उसके लिये यह पुरस्कार बहुत थोड़ा है। रात में मैं पुनः बुलाया गया और मुझे मेरे चित्र-जैसे छः चित्र दिखाए गए कि इनमें से अपना चित्र छाँट लो। कुछ कठिनता से मैं अपना चित्र पहचान पाया और मैंने प्रतिकृतियों के अंतर बताए। उपरांत पुरस्कार का मोल-भाव पुनः आरंभ हुआ × ×" (सारांश)।

(३) जहाँगीर के एक उमरा ने उसके पास एक तसवीर भेजी जिसे फिरंगी अमीर तैमूर की बताते थे। बादशाह राज्यारोहण के तीसरे बरस लिखता है—"जो यह बात कुछ भी सच होती तो कोई पदार्थ इस चित्र से बढ़कर मेरे समीप नहीं था"।

—जहाँगीरनामा, प्रथम भाग, पृ० ११४.

(४) ऐसा एक चित्र पेरिस के राष्ट्रीय पुस्तकालय में है, जिसे त्चुकिन ने अपनी पुस्तक में प्रकाशित किया है (फलक—२४ बी)।

पृ० १४६-५० से संबंधित—**मुगल चित्रों में प्रयुक्त रंग**—ये रंग प्रधानतः चौदह हैं जो चार वर्गों में बँटते हैं। (क) खनिज—१—गेरू, २—हिरौंजी, ३—रामरज, ४—हरा ढाबा, ५—लाजवर्ती (लाजवर्त को बूककर पानी में नितारते हैं। पथरीला अंश नीचे बैठ जाता है, रंग ऊपर उतरा आता है) एवं ६—सोना तथा ७—चाँदी (तबक हल करके)। (ख) रासायनिक—८—सफेदा (फूँका जस्ता), ६—सिंदूर (फूँका सीसा), १०—प्योड़ी (केवल आम की पत्ती खिलाकर गऊ को एक खास तरह की मिट्टी पर बाँधते हैं, जो उसके मूत्र से बड़ी स्थायी एवं तेज पीली हो जाती है), ११—स्याही (काजल), १२—जंगाल (सिरके के प्रभाव से ताँबे का रूपांतर)। (ग) जांतविक—१३—गुलाली

(एक प्रकार के कृमि को सुखा कर कई मसालों के संग पकाते हैं, जिससे यह, रक्त-जैसा गहरा लाल रंग तैयार होता है)। (घ) वानस्पतिक—१४-नील (नील क्षुप का सार)। कुछ विद्वानों का यह कथन गलत है कि अन्य जांतविक एवं वानस्पतिक रंगों का भी प्रयोग **मुगल** चित्रों में होता था। उक्त दोनों के सिवा ऐसे अन्य सभी रंग उड़नेवाले होते हैं। इसी प्रकार यह भी गप है कि **मुगल** चित्रों में पिसे रत्न लगते थे। पिस जाने पर रत्नों में वर्ण नहीं रह जाता। प्राय: इन्हीं रंगों का प्रयोग **राजस्थानी** और **कश्मीरी** चित्रों में भी पाया जाता है।

पृ० १५८. § ४६. के पूर्व—**मुगल शैली** के यौवन काल में रंगों के ओप, दबाजत और मलाहियत के कारण आरंभिक **मुगल** चित्रों से भी अधिक मीनापन रहता है। किंतु ये रंग कुछ बदरंग करके लगाए जाते हैं (मिलाइए, पृ० १३६, पं० ४–६)।

मुख्यत: शाहजहाँ-काल से **मुगल शैली** के कुछ बिना रँगे रेखा-चित्र भी मिलते हैं जिन्हें **स्याह-कलम** चित्र कहते हैं। इनमें कागज पर फिटकिरी मिले सरेस या अंडे की सफेदी का अस्तर दे के, कि कागज ज्यों का त्यों दीखता रहे किंतु **लिखाई** न फूटे, बहुत सँभालकर स्याही से बड़ी बारीक **सच्ची टिपाई** (पृ० १४६) करते हैं और उसी (स्याही) से तैयार भी कर जाते हैं। दाढ़ी आदि में **एक-बाल परदाज** (एक एक बाल अलग अलग दिखाना), मुलायम साया और ओठ, आँख तथा हथेली में नाम मात्र की रंगत, कहीं पर जरा-सा सोना या अन्य रंगों का इशारा, इन **स्याह-कलम** चित्रों की विशेषताएँ हैं।

मोहनजोदड़ो के मिट्टी के बर्तनों पर की रँगाई

फलक.—२
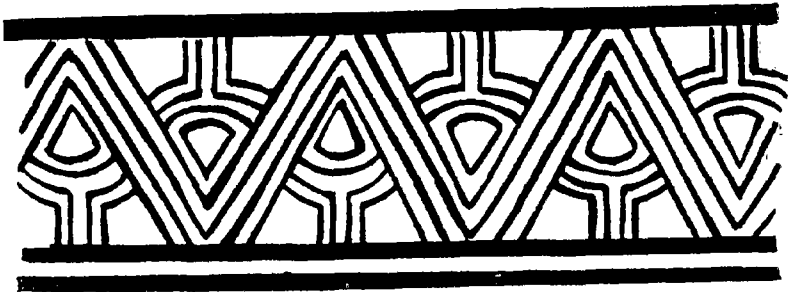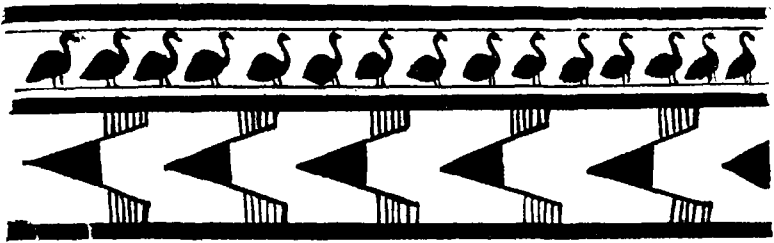
हड़प्पा का रंगा मटका (शव गाड़ने का)

दिव्य गायक

गुप्त-काल; अजंटा; १७ वीं गुफा

फलक—४

बेस्संतर जातक

गुप्त-काल; अजंटा; १७ वीं गुफा

माता-पुत्र
गुप्त-काल; अजंटा; १७ वीं गुफा

क—प्रेम-निमग्ना
आरंभिक मध्यकाल; अजंटा

ख—किसी की याद
आरंभिक मध्यकाल; बदामी (बंबई प्रांत)

फलक - ३

क – बोधिसत्त्व
आरंभिक मध्यकाल : होरियुजी मठ, जापान

ख – त्रिमुख महेश्वर
८वीं शती ; चीनी तुर्किस्तान

फलक—८

हरित तारा

पाल-कालीन ताल-पत्र पर लिखी पोथी का एक चित्र

११वीं शती; विहार वा बंगाल; भारत-कला-भवन, काशी

जैन कल्प-सूत्र का एक पन्ना

१५वीं शती; अपभ्रंश शैली; बोस्टन संग्रहालय (अमेरिका)
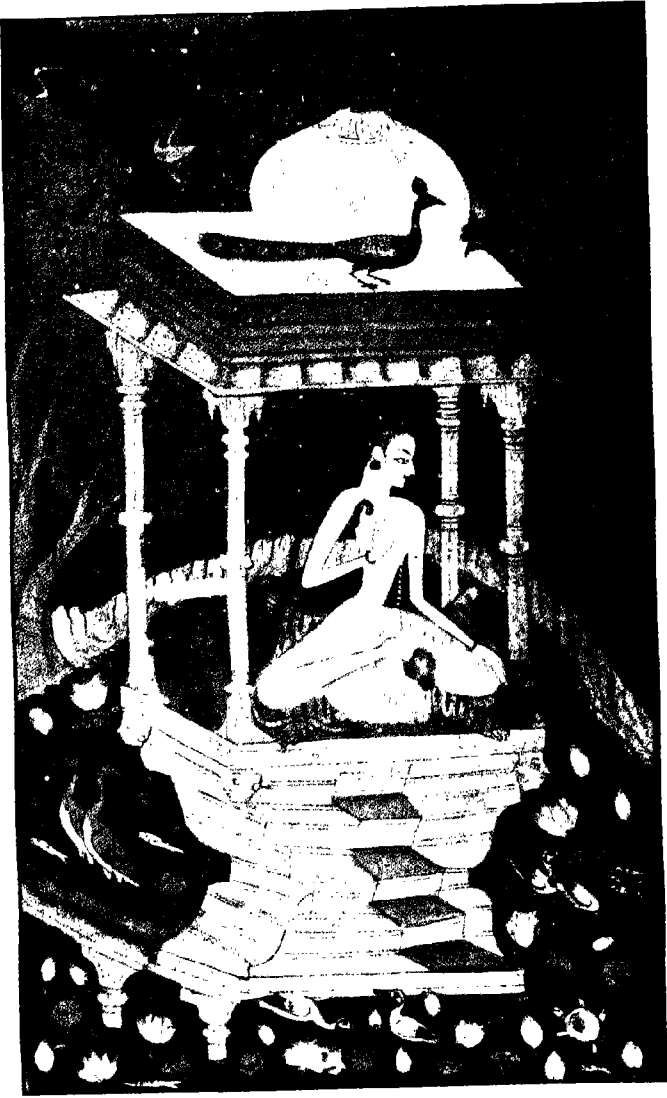
बंगाली रागिनी

१६वीं शती; आरंभिक राजस्थानी; भारत-कला-भवन, काशी

दौड़ता हुआ मस्त हाथी

१८वीं शती; राजस्थानी; भारत-कला-भवन, काशी

पार्वती-प्रश्न
(रामचरितमानस का एक चित्र)
आरंभिक १९वीं शती; राजस्थानी; भारत-कला-भवन, काशी

कालिय-दमन

१८वीं-१९वीं शती; पहाड़ी; डा० कुमारस्वामी (अमेरिका) के संग्रह में

आदिराज पृथु (गोरूपी पृथ्वी का पीछा करते हुए)
हरिवंश के फारसी अनुवाद का एक चित्र
अकबर-कालीन; आरंभिक मुगल शैली; भारत-कला-भवन, काशी

राजा मानसिंह
१६वीं-१७वीं शती; आरंभिक मुगल शैली
बोस्टन संग्रहालय (अमेरिका)

अजमेर में भंडारा
१७वीं शती; जहाँगीर-कालीन मुगल शैली
प्रिंस आव वेल्स संग्रहालय, बंबई

संत शेखफूल

१७वीं शती; जहाँगीर-कालीन मुगल शैली; चित्रकार बिशनदास
भारत-कला-भवन, काशी

फलक—१८

शिकारी बाज पक्षी

१७वीं शती; जहाँगीर-कालीन मुगल शैली; ब्रिटिश संग्रहालय, लंदन

शाहज़ादा मुराद और नजर मुहम्मद की मुलाकात
१७वीं शती; शाहजहाँ-कालीन मुगल शैली; चित्रकार फतहचंद
भारत-कला-भवन, काशी

देवी मरियम और शिशु ईसा

१७वीं-१८वीं शती; मुगल शैली; भारत-कला-भवन, काशी

साहूजी तथा बाजीराव

१८वीं शती; दकनी शैली

किसी नवाब का जनाना दरबार

१८वीं शती; पिछली मुगल शैली भारत-कला-भवन, काशी

तांडव
आधुनिक; चित्रकार उस्ताद रामप्रसाद
भारत-कला-भवन, काशी

तिष्यरक्षिता की डाह

आधुनिक; ठाकुर शैली; चित्रकार आचार्य अवनींद्रनाथ ठाकुर